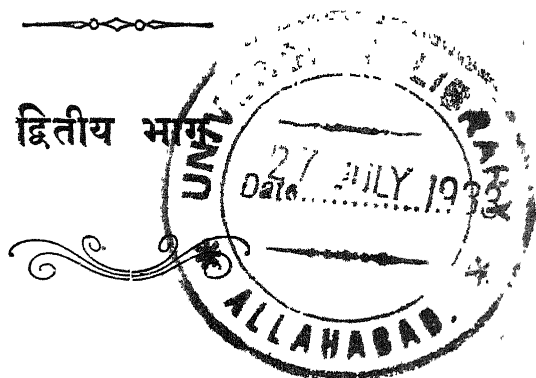
# शुद्धाद्वैतदर्शन.

## द्वितीय भाग




निर्धर्मं ब्रह्म शुद्धं, शबलमिह जगत्कर्तृ, सर्वं च मिथ्ये-
त्येवं प्रोद्घुष्य बौद्धैरिव जगति हरेर्भक्तिरालोप्यते यैः ।
भक्त्याचारोपदेशाच्युतनिगमगुरुव्यक्तविद्वेषिणस्ते
तेभ्यः प्रज्ञेक्षणेभ्यो वितरतु विमले चक्षुषी दर्शनं नः ॥

भट्टश्रीरमानाथशर्मा.



गोस्वामिकुलतिलक श्री १०८ गोकुलनाथजीमहाराज.

श्रीः

# भगवत्स्वरूप

किंवा

# शुद्धाद्वैतदर्शन.

## द्वितीय भाग.

गोस्वामिकुलकौस्तुभ-

श्री १०८ श्रीगोकुलनाथजी महाराजकी आज्ञानुसार

प्रणेता तथा प्रकाशक,

देवर्षि भट्टश्रीद्वारकानाथात्मज

**भट्टश्रीरमानाथशर्मा**

महामहोपदेशक वेदान्तभूषणसाहित्यरत्नशुद्धाद्वैतभूषण.

निर्धर्मं ब्रह्म शुद्धं, शबलमिह जगत्कर्तृ, सर्वं च मिथ्ये-
त्येवं प्रोद्घुष्य बौद्धैरिव जगति हरेर्भक्तिरालोप्यते यैः ।
भक्त्याचारोपदेशाच्युतनिगमगुरुव्यक्तविद्वेषिणस्ते
तेभ्यः प्रज्ञेक्षणेभ्यो वितरतु विमले चक्षुषी दर्शनं नः ॥

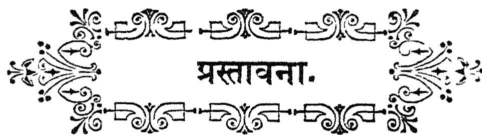
सन् १९१७. ]　　मूल्य ८ आने.　　[ वल्लभाब्दः ४३९.

Published by Bhatta shri Ramanath Shastri
Badamandir, Bhoyivara, Bombay.

---

Printed by Ramchandra Yesu Shedge, at the Nirnaya-sagar
Press. 23, Kolbhat Lane, Bombay.

---



## प्रस्तावना.

कालभी भगवान्का एक स्वरूप है। और इसीलिये अनादी और अनन्त है। इस अनाद्यनन्त कालमें 'यह पुराना और यह नवीन' कहना दुःसाहसही नहीं किन्तु अशक्यही है। इसलिये कौन ग्रंथ वा मत पुराना है और कौन नवीन है, और इसी कारणसे कौन अच्छा और कौन बुरा यह चर्चा बुद्धिमानोंके विचारका लक्ष्य नहीं होसक्ती। उनकी निगाह इस बात पर रहती है कि वेदादिशास्त्रोंका शुद्ध और सरल अर्थ क्या है। यह तो सबही स्वीकार करते हैं कि वेदव्यासजीने वेदोंका व्यास करनेके बाद, वेदोंके निःसंदिग्ध अर्थ जाननेके लियेही सूत्रोंका गीताका और कतिपय पुराणोंका निर्माण किया। और जहां यह बात समझमें आती है वहां यहभी स्पष्ट है कि 'इतना करने परभी उन्हे वेदके अर्थविषयमें जैसा होना चाहिये उतना संतोष न हुआ। तदनन्तर श्रीनारदके उपदेशसे जब अविद्यातरणका उपाय, और सर्व संदेहोंका निरासक शास्त्र श्रीमद्भावत, समाधिमें स्पष्ट देख चुके, तब हृदयको सन्तोष हुआ।

इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वेदार्थका निःसंदिग्ध प्रकाश करनेवाले सूत्र गीता और श्रीमद्भावत यह तीन प्रस्थान हैं। सूत्रोंके अक्षरोंसे यह प्रतीत होता है कि समग्र वेद प्रकारान्तरसे ब्रह्मका ( भगवान्का ) ही वर्णन कर रहे हैं। '**मां विधत्तेऽभिधत्ते माम्**।' और इसीलिये यह प्रसिद्ध है कि

'जो इन शास्त्रोंद्वारा वेदार्थको निःसंदेह समझा दे उसे '**आचार्य**' सिंहासनका लाभ हुआ है । **आचार्य** इस भारतमें अनेक हो चुके हैं । किन्तु वेदार्थको सूत्रानुसार समझानेवालोंमें श्रीमद्वल्लभाचार्यकाही सिंहासन है । '**कलौ वैमुख्यतस्तमः**' इस वाक्यके अनुरोधसे जो कोई श्रीमद्वल्लभाधीशके निबंध, सूत्र-भाष्य, और श्रीसुबोधिनी, इन तीन ग्रंथोको निश्छिद्र हृदयसे देखे तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि '**वेदोंका सरल और शुद्ध तात्पर्य एक मात्र शुद्धाद्वैतही है** ।'

प्रायःसब आचार्य दक्षिणदेशमेंही प्रकट हुए हैं । श्रीमद्वल्लभाचार्यके पूर्व पुरुषभी तैलंग देशके कांकरवाड नामक ग्राममें निवास करते थे । आपके पिता **श्रीलक्ष्मणभट्टजी** कृष्णयजुर्वेदान्तर्गत आपस्तंब तैत्तिरीयशाखाध्येता वेल्लनाटीय ब्राह्मण थे । यह जाति उसदेशमें आजतक उच्च कही जाती है । प्रायः विक्रमकी पंचदश शताब्दीका यह इतिहास है ।

किसी समय श्रीलक्ष्मणभट्टजीने काशीके तरफ प्रस्थान किया । मार्गमें इन्हे स्वप्नमें किसी दिव्यपुरुषके दर्शन मिले । और उनने कहा कि आपकी अन्तर्वत्नी इन पत्नीमें एक महापुरुषका जन्म होगा । जब यह चंपारण्य पहुंचे तो वैशाख कृष्ण एकादशीके दिन मार्गमेंही पत्नीको प्रसव हुआ । बालकके दिव्य और सुन्दर होनेपरभी जीवनकी आशा कम देखकर उसे वहांही पत्रादिसे लपेटकर किसी वृक्षके नीचे रख स्वयं प्रातःकालही यात्राका प्रवन्ध किया । किन्तु कितनेही समयके अनन्तर रात्रिको फिर उन्ही दिव्यपुरुषके दर्शन हुए और उन्होने आज्ञा करी कि उन बालकको

आप ग्रहण करें। वह बडे प्रभावशाली होंगे । प्रातः जब उस स्थान-
पर पहुंचे तो बालकके चारों तरफ अग्निका चक्र देखा । पुनः
पुनः इसतरह आश्चर्य घटना होनेसे इन्हे निश्चय हुआ कि हमारे
घर भगवन्मुख अग्निका अवतार हुआ है । बालकको तथा सुप्रसन्न
अपनी गृहिणीको साथ ले कतिपय दिनोंमें इन्होने प्रयागके पास
**अडेल** नामके ग्राममें जाकर निवास किया । फिर वहांसे चलकर
काशीमें रहे । पुत्रका अध्ययन काशीमेंही प्रारम्भ हुआ । इनका नाम
श्रीवल्लभाचार्य था । चतुर्दश वा पंचदशवें वर्षमें श्रीमद्वल्लभाधीशने
साङ्ग वेदादि समग्र शास्त्रोंका निगदमात्रसे अध्ययन परिसमाप्त
किया । यात्रासे निवृत्त हो श्रीलक्ष्मणभट्ट पुनः अपने दक्षिण देश-
को गए । वहां वेंकटाद्रिके पास आपका भगवल्लोक हुआ । और्ध्व-
दैहिक कर्म समाप्तिके अनन्तर श्रीमद्वल्लभाधीश अपने भ्राता और
मातृचरणको साथ ले घर पहुंचे । वहां कतिपय काल व्यतीतकर
आपने एकाकी दिग्विजय यात्रार्थ प्रस्थान किया । उस समय समग्र
दक्षिण देश विजयापुरके अधीश राजा कृष्णदेवके अधिकार में था ।
कृष्णदेवराजा, उन वीरबुक्कराजाके पौत्र थे जिन्होने सायणमाधवके
द्वारा वेदोंके भाष्य बनवाये । इन्ही कृष्णदेव राजानें एक समय एक
भारी वादसभा करवाई । उसमें जब शांकराद्वैत वादियोंका विजय
होनेकोही था कि श्रीमद्वल्लभाचार्यभी यात्रावश अपने मातुलके घर
ठहरे । मातुल उन राजाके यहां कोई अधिकार प्राप्त थे । वाद-
वार्ताके चलनेपर श्रीमद्वल्लभाधीशने मातुलसे सभामें चलनेके लिये
उत्साह प्रकट किया । प्रातः श्रीमद्वल्लभाधीशके सभामें पधारनेसे
राजाको बडा आनन्द हुआ । वहां आपने वादके अनन्तर वेद

उपनिषत् और सूत्रोंके अक्षरोंसे, लक्षणादि खेंचातानी किये बिना यह स्पष्ट दिखा दिया कि 'समग्र शास्त्रोंका ब्रह्मवाद वा शुद्धाद्वैत ही सिद्धान्त है' । राजाने सुप्रसन्न होकर सर्व विद्वानोंकी आज्ञासे आपका कनकाभिषेक किया । और **'आचार्य'** सिंहासनपर आपको प्रतिष्ठित किया । तथा आपकी दीक्षा ग्रहण की । इस तरह आपने तीन बार भारततीर्थ परिक्रमाकर अपने सिद्धान्तका सर्वत्र प्रचार किया। तदनन्तर प्रभु श्रीविट्ठलनाथकी आज्ञासे आपने अपनी सजातीय प्रशस्त कुलकी प्रशस्त कन्यासे सुयोग्य वयमें विवाह किया । उनमें तीन पुत्र हुए तीनोमें दीक्षित श्रीविट्ठलेश प्रभुचरण मध्यम थे । आपभी पिताकी तरह प्रशस्त विद्वान् और भगवद्भक्तिपरायण थे । सेवाकी विशदपद्धति और रीतियें श्री-प्रभुचरणनेहीं प्रारम्भ करीं । श्रीविट्ठलेश प्रभुका विशेषकर निवास श्रीगोकुल और गिरिगोवर्धनोपत्यकामें रहता था । श्रीमहाप्रभु श्रीमद्वल्लभाधीशनेही श्रीगोवर्धनके ऊपर स्वयं प्रादुर्भूत दिव्य-विग्रह श्रीगोवर्धननाथके स्वरूपकी प्रतिष्ठा की जो आजकल मेवाड–श्रीनाथद्वारमें विराजमान हैं । श्रीमहाप्रभुचरण और श्रीविट्ठलनाथ दीक्षित प्रभुके निःसीम वैदुष्य एवं माहात्म्यके वश होकर अनेक विद्वान् ब्राह्मण, भूपति, और अन्यजातीय व्यक्तियोंने आप युगलस्वरूपसे पुष्टिमार्गीय दीक्षा ग्रहण की ।

प्रभुचरण श्रीविट्ठलनाथ दीक्षितजीके गृहमें सात पुत्र हुए। जिनकी सात गादियां स्थलस्थल पर सम्प्रति बिराजमान हैं । सात गादि-योंके मस्तकपर श्रीमहाप्रभुसेवित सातही भगवत्स्वरूप विराजमान हैं । उन सात पुत्रोंमें श्रीगिरिधरजीके वंशमेंही हमारे स्वामी

वत्सलप्रकृति विद्वान् गोस्वामिकुलकौस्तुभ श्री १०८ **श्रीगोकुल-नाथजी** महाराज हैं। जो आजकल मुम्बईकी गो० श्री १०८ **श्रीजीवनजी** महाराजके वडे मंदिरकी गादीपर विराजमान हैं।

आपकेही निदेशमें रहकर मैंने यह **शुद्धाद्वैत** ग्रंथ निर्माण किया है।

किसीभी कार्यके सत्फलपर्यंत पहुंचनेके लिये मनुष्यको प्रज्ञा और उत्साहकी बडी अपेक्षा रहती है। यदि साम्प्रदायिक ग्रंथोंका विद्वान् कोई इस पुस्तकको विचारपूर्वक देखे तो उसे मालुम पडे विना न रहैगा कि इस छोटीसी पुस्तकमेंभी मैंने जहांतक बन पडा प्रायः ब्रह्मस्वरूप विषयक सबही बात भाष्यादि ग्रंथोंसे समेटकर रख दीं हैं। किन्तु प्रज्ञा रहतेभी हमें उत्साहकी शक्ति बराबर न मिली। अतएव हम इस ग्रंथको जैसा बनाना चाहते थे वैसा न बना सके। अस्तु. अब यदि उत्साह बढा तौ आगेके भक्ति-खंडमें बहुतसी बातें पूर्ण हो जांयगीं। भक्तिखंडमें साम्प्रदायिक प्रमेयकी सब बातें विशदरीत्या हमें कहनीं हैं। इसलिये हमें अंतमें आनन्दमूर्ति श्रीकृष्णसे प्रार्थना है कि वे हमारे ऊपर ऐसे वार न होने दें जिनसे हमारा उत्साह भङ्ग हो।

अन्तमें इतना कहना है कि,

दोषा मनुष्यसहजा इति, ते यदि स्यु-<br>
ग्रंन्थे ममापि तदिमान्सुधियः क्षमन्ताम्।<br>
एतावदेव रचिताञ्जलिरर्थये वः<br>
शान्ताः पतन्त्विह भवत्करुणाकटाक्षाः॥

**ग्रन्थकर्ता.**

# विषयोंकी सूची।

॥ श्रीहरिःशरणम् ॥

# शुद्धाद्वैतदर्शन

किंवा

## भगवत्स्वरूपनिर्णय ।



### द्वितीय भाग.



कुलदेवस्मरणम् ।

दीपमन्धतमसच्छिदे सुधा-
सान्द्रसूक्तिरचनाऽमृताम्बुधिम् ।
इन्दिराकुलगृहं भजेऽनिशं
दिव्यवाजिवदनांघ्रिपंकजम् ॥ १ ॥

आचार्यचिंतनम् ।

यत्प्रसादकणमन्तरा जनो
नैकमक्षरमपीक्षितुं क्षमः ।
चंपकाननभवं चिरं भजे
वल्लभं कमपि दिव्यभास्करम् ॥ २ ॥

गुरुस्मरणम् ।

दिव्यवाङ्मयगुणाश्रितं श्रये
पूरुषोत्तमकृपालवोडुपम् ।

सम्प्रदायगुरुतत्त्वनीरधिं
यत्तितीर्षुरगुणोस्मि दुस्तरम् ॥ ३ ॥

ग्रन्थारम्भः ।

ध्येयं धियामविषयं पृथुकं पुराण-
मेकं यमस्तकलुषं पुरुमायमाहुः ।
जन्मानि बिभ्रतमजं शुचिमभ्रनीलं
गोपाङ्गनाङ्ककमलं तमनन्तमीडे ॥ ४ ॥

१–'**मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि कर्माणि प्रथन्ते**'[1] इस शास्त्रके अनुसार गुरुस्मरणरूप मङ्गलकर प्रथमभाग समाप्त किया । अब द्वितीयभागके प्रारम्भमें ग्रन्थकर्ता '**ध्येयं धियां**' इस श्लोकके द्वारा अपने अभीष्ट श्रीबालकृष्णरूप वस्तुका निर्देश करता है । '**ध्येयमिति**' । अर्थात् जिस श्रीमद्बालकृष्णको वेदादिशास्त्र, अन्यसाधारण जीवकी बुद्धिसे दुर्गम, और भक्तोंको निरंतर ध्यान करनेलायक, तथा सर्वदोषोंसे रहित और अनेक अचिन्त्य माया आदि शक्तियोंसे युक्त, एवं अजन्मा और अनेक अवतारोंको धारण करनेवाला, तथा मेघवत् श्याम-स्वरूप और शुभ्र, कहते हैं । उस देशकालादिसे अपरिच्छिन्न ( मानकरनेके अशक्य ) और श्रीयशोदाके उत्संगमें क्रीडा करते, पुराणपुरुषोत्तम **श्रीबालकृष्णको** में अपनी स्तुतिका

---

१ जिनके आदि मध्य और अन्तमें मङ्गल होता है वह कार्य पूरे होते हैं. ।

लक्ष्य बनाता हूं। इस श्लोकमें [१]**वसंततिलका** छंद है। और [२]**विरोधाभास** अलंकार है। जहां विरोधसा जचता हो परन्तु वह हो नहीं उसे '**विरोधाभास**' अलंकार कहते हैं। यहां समग्र विशेषणोंमें वह प्रत्यक्ष है। जैसे—जो बुद्धिमें न आसकै उसका ध्यान किसतरह हो सकै। और जो निर्दोष हो वह मायी कैसे कहा जाय। तथा जो अजन्मा है वह 'जन्म लेता है' यह कैसे कहा जाय। और जो श्याम है वह शुभ्रभी कहां से हो। इसीतरह जो बालक है वह पुराण क्यों कहा जाय। और जो अनन्त है वह किसीकी गोदीमें क्योंकर समासक्ता है। परन्तु '**कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्**' '**परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते**' '**प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया**' '**सर्वकामः सर्वरसः**' '**अणोरणीयान्महतो महीयान्**' इत्यादि वचनोंसे उसे ध्येय, शक्तिमान्, अवतार धारण करनेवाला, और छोटेसे छोटा कहा है। अतएव श्लोकमें किसीतरहका विरोध नहीं है। वास्तवमें तो '**स सर्वं भवति**' '**अपाणिपादो जवनो ग्रहीता**' '**सर्वधर्मोपपत्तेश्च**' इत्यादि श्रुतिसूत्रोंसे यह मालुम पडता है कि वह परमात्मा सर्व धर्मयुक्त है। और रीति है कि जहां सर्व धर्म रहते हों वहां अवश्य विरुद्ध धर्मभी हों। अतएव परब्रह्मभी विरुद्ध सर्व धर्मोंसे युक्त है। इससेभी श्लोकमें किसीतरहका विरोध नहीं है। दुनियामें परस्पर विरुद्धसे दीखते धर्मोंकाभी वहां ऐक्य है।

---

१—उक्ता वसंततिलका तभजा जगौ गः—त ऽऽ।— भ ऽ।।— ज।ऽ।— ज।ऽ।—यह – गण और दो गुरु ऽऽ जिसमें हों उसे वसन्ततिलका छन्द कहते हैं। २—लक्षण प्र. भा. २ पत्र।

२—जो धर्म प्रकृतिसे संबंध रखते हों, प्राकृत हों, उन्हीमें विरोध होता है। किन्तु जो अप्राकृत हैं, अलौकिक हैं, स्वरूपात्मक हैं, उनमें विरोधका गन्धभी नहीं होता। पंचमहाभूत, मन, बुद्धि, अहंकार, तथा लिंगदेहयुक्त चेतन, ( जीव ) यह नौप्रकारकी ब्रह्मकी प्रकृति है। यद्यपि सत्त्व, रजस्, और तमस्, इन तीन गुणोंकी साम्यावस्थाको प्रकृति कहते हैं। तथापि उस विशिष्ट प्रकृतिके यह पंचमहाभूतादि कार्य हैं। इसीसे कार्य कारणके अभेदको लेकर इन पंचभूतादिकोभी प्रकृति शब्दसे कहा है। इस प्रकृतिसे संबंध रखनेवाले जितने धर्म हैं, वह सब प्राकृतिक, प्राकृत, वा लौकिक, कहेजाते हैं किन्तु ब्रह्मके सर्व धर्म अप्राकृत अलौकिक हैं।

३—ब्रह्मकी अनेक शक्तियां है, । उनमें मुख्य द्वादश हैं। उन द्वादश शक्तियोंमें प्रकृतिभी ब्रह्मकी शक्ति है। और शक्ति शक्तिमानमें अभेद है यह हम पूर्वभागमें समझा चुके हैं। जैसे प्रकाश[3] और सूर्यमें वास्तव अभेद है, । किन्तु सूर्यरूप वस्तुके बोधर्थ करा-

---

१—भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्। श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषत्।

२—श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या कीर्त्या तुष्ट्येलयोर्जया।
विद्ययाऽविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम्॥

३—तेजःप्रकाशयोर्भेदो न तेजस्त्वाद्यथा तथा।
ब्रह्मणः शक्तिधर्माणां ब्रह्मत्वेन भिदा नहि॥

४—शक्तिशक्तिमतोर्भेदो वस्तुबोधाय केवलम्।
अभेदो वस्तुतो नाक्ष्णो दृष्टिशक्तिः पृथग्भवेत्॥

नेके लिये धर्म और धर्मीको अलगकर यह कहना पडता है कि जिसमें प्रकाश है वह सूर्य है । इसी तरह शक्ति और शक्तिमान्में वास्तव अभेद रहतेभी कहना पडता है कि जिसमें शक्ति हो उसे शक्तिमान् कहते हैं । यहां प्रकाश और सूर्य, शक्ति और शक्तिमान्, यह भेद केवल वस्तुबोधके लियेही है वास्तव नहीं। इसी तरह प्रकृति शक्ति, और शक्तिमान् भगवानमेंभी, वास्तव भेद नहीं है । अथवा यों कहो कि प्रकृति भगवान्का आगन्तुक रूप है । अतएव कार्य है । और वह स्वयं अनागन्तुक स्वरूप है । अतएव कारण है । और कार्य कारणमें अभेद है । इसी कार्य और कारण, शक्ति और शक्तिमान् अथवा प्रकृति और ब्रह्मको भगवान्ने गीतोपनिषत्में क्षर और अक्षर नामसे कहा है।

४–कार्यके अथवा तो प्रकृतिके भगवद्दत्त सर्व धर्म, परिमित[1], ( थोडे ) नियमितकार्यकोही करनेवाले मलिन (अर्थात्–जायते अस्ति वर्द्धते विपरिणमति क्षीयते नश्यति छ विकारवाले ) अन्य नियम्य अर्थात् जिनका बंदोबस्त अन्यसे होता हो, और नियत आकारवाले हैं । और इसीसे वह प्राकृत और लौकिक कहलाते हैं । और भगवान्के सर्व धर्म निर्विकार हैं। अपरिमित हैं। ब्रह्मसे अभिन्न हैं और अन्य नियम्य नही हैं । इसीसे वह अप्राकृत

---

१. यत्पाञ्चभौतिकं तस्येच्छया षड्भावदर्शनम् ।
मितं नियतकार्यं च तत्प्राकृतमुदाहृतम् ॥
नित्या धर्मा निजाभिन्नाः सर्वे सर्वत्र तस्य तु ।
'**सर्वकामः सर्वरस**' इति छान्दोग्यरूपणात् ।
इत्यादि. वेदान्तचिन्तमणौ. **भट्टश्रीगोवर्द्धनशर्मभारतमार्तण्डः** ।

और अलौकिक कहे जाते हैं। और इसीलिये परस्पर विरुद्ध होनेपरभी ब्रह्मके धर्मोंमें विरोध नहीं है। तौ अब श्लोकमेंभी किसीतरहका विरोध न रहा।

( लम्बा चौडा पूर्वपक्ष. )

## ब्रह्मविषयमें मायावादका मत.

५—कितनेही वादी कहते हैं कि वेदान्तमें ब्रह्मको सर्वधर्म सहितभी कहा है और सर्व धर्म रहितभी कहा है। जिसमें कोई व्यावर्तक, जुदाई दिखानेवाले विशेष न हों उसे निर्विशेष वा निर्धर्मक कहते हैं। वेदान्तमें ब्रह्मको सर्व धर्मसहित कहनेवालेभी और सर्व धर्मरहित कहनेवाले अर्थात् निर्विशेष कहनेवाले श्रुतिवाक्यभी मिलते हैं। तौ फिर ब्रह्म केवल सर्व धर्मयुक्तही है यह कहना युक्त नहीं हो सक्ता। और अतएव ब्रह्म सर्व धर्मविशिष्ट है वा सर्वविरुद्ध धर्मोंका आश्रय है यह कहनाभी निर्दोष नहीं।

६—शास्त्रोंमें 'अब[1] यहांसे नेतिनेति ऐसा आदेश है' 'हे[2] गार्गि ब्राह्मणलोक ( ज्ञानी ) इस अक्षर ब्रह्मको अस्थूल अनणु अह्रस्व अदीर्घ अलोहित अस्नेह अच्छाय अतमस् अवायु अनाकाश असंग अगंध अस्पर्श अरस अचक्षु अश्रोत्र अवाक् अमनस् अतेजस् अप्राण अमुख अनाम अगोत्र अजर अमर अभय अमृत अरजस् अशब्द अविवृत असंवृत अपूर्व अनपर अनन्तर अबाह्य कहते हैं, तथा कोई उसका भोग नहीं करसक्ता और न वह किसीका

---

१—अथाऽतो नेतिनेति। २—'सहोवाच तद्वैतदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलं०'। ३ 'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योयं'।

भोग करता है' इत्यादि श्रुतिद्वारा, तथा 'यह परमात्मा अव्यक्त है अचिन्त्य है और अविकार्य है' इत्यादि स्मृतिद्वारा ब्रह्मको निर्विशेष निर्धर्मक कहा है ।

७–और अन्यत्र **'जिससे यह जगत् उत्पन्न होताहै, उत्पन्न हुआ भी जिससे जीवित रहताहै और जिसमें लयको प्राप्त होता** है वह ब्रह्म है' । 'आनन्दसेही जगत् उत्पन्न होता है इत्यादि' 'वह ब्रह्म सर्वकाम सर्वगन्ध और सर्वरस है' इत्यादि श्रुतिद्वारा' और 'मैं ही सर्वजगत्का उत्पन्न करनेवाला हूं और मुझसेही सर्वप्रवृत्ति होती है' इत्यादि स्मृतिद्वारा ब्रह्मको सधर्मक सविशेषभी कहा है । इसलिये बडा संदेह होताहै कि ब्रह्मको सविशेष मानना कि निर्विशेष ? ।

८–हमारा तो यहां यही मत है कि यद्यपि वेदादिमें परमात्माको सविशेषभी कहा है तथापि ब्रह्म तो निर्धर्मक और निर्विशेषही है । सविशेष माननेमें **'एकधर्म और एक धर्मी'** यह द्वैत होता है । और निर्धर्मक माननेमें द्वैतका गंधभी नहीं रहता । निर्विशेषब्रह्म माननेमें एक यहभी कारण है कि जो लोग ब्रह्मको सविशेष वा सधर्मक मानते हैं उन्हें भी आधारकी जगह एक निखालस ब्रह्मस्वरूप तो माननाही पडैगा । अन्यथा विशेषोंका और धर्मोंका निरूपण कहां किया जाय ? । आकाश है तभी तो वहां चन्द्रका निरूपण करते हैं । यदि आकाशको ही न मानैं तो फिर चन्द्रका निरूपण कहां किया जाय ? । **'ब्रह्म, ज्ञानधर्मवाला है'** इस जगह भी ज्ञानधर्मसे जुदा निखालस एक ब्रह्मका स्वरूप माननाही पडैगा । क्योंकि ज्ञानधर्म आधेय ( रखनेका

पदार्थ ) है। और धर्मी 'ब्रह्म' आधार ( रखनेकी जगह ) है। जो अपने आश्रितोंकी स्थितिको बनाये रहै, अर्थात् जो उनका निर्वाहक हो उसे आधार कहते हैं। और इसी लिये वह आधेयोंका उपजीव्यभी है। जो आधारमें आश्रित होकर रहें अथवा जिनकी स्थितिका निर्वाह आधारसे होताहो उन्हें आधेय कहतेहैं। और इसीलिये वह आधेय, उपजीवक कहलाते हैं। जैसे पात्र और उसमें रक्खी हुई वस्तु। पात्रने अपने आश्रितकी स्थिति बना रक्खी है अतएव वह वस्तुका उपजीव्य है, आधार है। और उसमें रक्खी हुई वस्तु आश्रित होनेसे आधेय है, और उपजीवक है। हमेशा उपजीव्य, उपजीवकसे बलवान् होता है। अतएव उपजीवक अपने उपजीव्यका विरोध वा बाध नहीं करसक्ता। निखालस ब्रह्म, धर्मोंका आधार और उपजीव्य है, और धर्म उसके आधेय और उपजीवक हैं।

तौ[१] अब यह हुआ कि जितनी निर्विशेष ब्रह्मका निरूपण करनेवाली श्रुतियां हैं, वह सब आधार निरूपिका हैं, उपजीव्य हैं।

---

१—सविशेषवादिनाऽपि विशेषाधारत्वेनाऽवश्यं ब्रह्मस्वरूपमप्यङ्गीकर्तव्यम्। अन्यथा कुत्र विशेषा निरूपिताः स्युः। तथाचाऽऽधारनिरूपिका श्रुतिराधेयनिरूपिकया नान्यथयितुं शक्या? उपजीव्यत्वात्। ननु निर्विशेषब्रह्मनिरूपिका श्रुतिर्धर्मान् विना न तन्निपरूयितुं शक्ता। तथाहि—निरूपणं हि लक्षणैः, तानि चाऽसाधारणधर्मरूपाणि। अत्र च धर्माभावात्तन्निरूपणपूर्वमभावमुखेनास्थूलादिवाक्यैर्निरूपन्त्या धर्मनिरूपिका श्रुतिरुपजीव्या। अभावस्य प्रतियोगिनिरूपणाऽधीननिरूपणत्वात्। तथाच श्रौतत्वोपजीव्यत्वयोरविशेषादन्यतरबाधो न युक्तः। विरोधात्तथाकरणे तूभयबाधो युक्तउक्तयुक्तेः। न चैवमपि वक्तुं शक्यं **'असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति चेद्वेदे' ति**

और इसी लिये बलवान्भी हैं । और सधर्मक ब्रह्मनिरूपिका श्रुतियां आधेय निरूपिका हैं, उपजीवक हैं । और इसी लिये वह निर्धर्मक निरूपिका श्रुतियोंका विरोध वा बाध नहीं करसक्तीं । किन्तु बलवान् होनेसे निर्धर्मक निरूपक वाक्यसमूहही, सधर्मक श्रुतियोंका बाध करतीं हैं । तौ सिद्ध हुआ कि सधर्मक नहीं किन्तु निर्धर्मक निर्विशेषही ब्रह्म है ।

९–इसके ऊपर कोई एकदेशी उत्तर देता है कि जो उपजीव्यपन निर्विशेषप्रतिपादक वचनोंमें लाते हो, वह तो सविशेषप्रतिपादक वचनोंमेंभी आसक्ता है । सुनिये ! ! यह नियम है कि अभावके निरूपणमें प्रतियोगीका निरूपण कारण होता है । अर्थात् वस्तुके अभावको जानते समय पहले वस्तुका ज्ञान होना चाहिये । जो वस्तुको नहीं जानता वह वस्तुके अभावको कैसे जानैगा । जिसने कभी घट देखाही नहीं वह घटाभावको कैसे समझैगा । स्थूलाभावके ज्ञान होनेमें प्रथम स्थूलका ज्ञान होना चाहिये । अर्थात् स्थूलाभावज्ञानका स्थूलज्ञान निर्वाहक है, और उपजीव्यभी है । जितने **'अस्थूलमनणु'** आदि अभावप्रतिपादक अर्थात् ब्रह्मको निर्विशेष कहनेवाले वाक्य हैं, सबमें पहले

---

निन्दाश्रुतेरिति चेत् मैवम् । नहि श्रुतिसिद्धा धर्मा निषिध्यन्ते । किन्त्वनुवादपूर्वं लौकिकाः स्थौल्यादयः । तथाच क्व श्रौतानां धर्माणामुपजीव्यत्वम् ? । न चैवं निषेधस्य भिन्नविषयत्वात् विरोधाभावेनैकतरबाधो न युक्तः, तथा चोभयवत्त्वं सिद्धमिति साम्प्रतम् ? । श्रौतानामप्यर्थानां श्रोतव्यत्त्वादीनां **'यतो वाचो निवर्तन्त'** इत्यादिना निषेधात् ।

विद्वन्मण्डनम्.

स्थूलादिधर्मोंके ज्ञानकी अति अपेक्षा है अतएव जितने निर्विशेष प्रतिपादक वचन हैं वह सब उपजीवक हैं और सधर्म सविशेष ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाले वाक्य उपजीव्य हैं। तौ अब जैसा उपजीव्यपन निर्धर्मक, श्रुतियोंमें है। वैसाही सधर्मक श्रुतियोंमें है इसलिये सविशेष और निर्विशेष दोनो तरहका ब्रह्म है ऐसा मानो। और बाध करते हो तो दोनोंका बाध करो। क्योंकि दोनो श्रुति समान हैं।

यदि कहो कि दोनोतरहकी श्रुतियोंका बाध करनेसे तो फिर **ब्रह्म** कोई वस्तुही न रहैगा। एकतरहका शून्यवाद होजायगा। और शून्यवादकी तो '**असन्नेव स भवति**' इत्यादि श्रुतियोंमें निन्दा की है। इसलिये यह नहीं कहसक्ते कि दोनो तरहका ब्रह्म नहीं। किन्तु यह कहसक्ते हैं कि जब दोनोतरहकी श्रुतियां आपसमें एक २ की उपजीव्य हैं। तो अवश्यही दोनो तरहका ब्रह्म है।

१०—इसके ऊपर पुनः मायावादी कहता है कि यहभी ठीक नहीं क्योंकि जितनी निर्धर्मक ब्रह्म प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियां हैं वे सब, श्रुतिके कहे धर्मोंका निषेध नहीं करती हैं, किन्तु लोकप्रसिद्ध धर्मोंकाही ब्रह्ममें प्रतिषेध करती हैं। यदि 'निर्विशेष श्रुति, सविशेष श्रुतिके कहेहुए धर्मोंका निषेध करती है' यह हम मानते हों तब तो यह कहसक्ते हो कि निषेधको धर्मोंकी अपेक्षा होनेसे धर्मप्रतिपादक श्रुति, '**अस्थूलादि**' निर्विशेष श्रुतिकी उपजीव्य हैं। किन्तु अब तो बातही पलटगई। अर्थात् हम, 'श्रुतिप्रतिपादित धर्मोंका ही निषेध निर्विशेष श्रुति करती है'

यह नहीं, किन्तु यह कहते हैं कि लौकिक धर्मोंका अनुवाद करके ब्रह्ममें निषेध करतीं हैं। अर्थात्–लोकमें जो धर्म दीख रहे हैं स्थूलादि, वे ब्रह्ममें नही हैं। तौ अब निषेधका विषय, श्रुति-प्रतिपादित धर्म न रहे। किन्तु लौकिक धर्म रहे। इसलिये अपेक्षा न रहनेसे सविशेष श्रुतियों निर्विशेष श्रुतियोंकी उपजीव्य भी न रहीं। किन्तु निर्विशेष श्रुतियांहीं बलवान् रहीं। क्योंके वे ब्रह्ममें धर्मोंका अनुवाद करके निषेध करती हैं इसलिये निर्वि-शेषही ब्रह्म है। यह हमारा कहना ठीक है। यदि यह कहो कि जब निषेधका विषय श्रुत्युक्त धर्म थे तब तो एक श्रुति दूसरी श्रुतिका बाध करसक्ती थी अतएव किसीएक तरहका ब्रह्म कह सक्ते थे। परन्तु अब तो निषेधका विषय पलट जाननेसे दोनो श्रुतियां स्वतन्त्र होगईं। और द्विविध ब्रह्मका प्रतिपादन करतीं हैं। अतएव ब्रह्म दोनो तरहका है ऐसा मानो। तौ भी युक्त नहीं क्योंकि जैसे निर्विशेषश्रुतिने ब्रह्ममें लौकिक धर्मोंका निषेध किया है वैसेही उसने **'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'** इत्यादि श्रुतिके कहे श्रोतव्य-मन्तव्यादि धर्मोंकाभी **'यतो वाचो निवर्तन्ते'** इत्यादि वचन-द्वारा निषेध किया ही है। इसलिये द्विविध ब्रह्म है यह नहीं कह सक्ते किन्तु यह कह सक्ते हैं कि निर्विशेषही ब्रह्म है। यदि

१–नहि श्रुतिसिद्धा धर्मा निषिध्यन्ते किन्त्वनुवादपूर्वं लौकिकाः स्थौल्यादयः। तथाच क्व धर्माणामुपजीव्यत्वम्? न चैवं निषेधस्य भिन्नविष-यत्वात् विरोधाभावेनैकतरबाधो न युक्त इत्यादि.

यह कहो कि जब श्रुत्युक्तधर्मोंका निषेध, श्रुतिही कररही है, तौ फिर उपजीव्य विरोधका भार शिरपर रहा ही। तौ उसका उत्तर यह है कि ऐसा उपजीव्य बाध हम मानतेही नहीं। यदि ऐसा उपजीव्य विरोध मानने लगैं तो फिर अभावका निरूपण तो जगत्से ऊठही जायगा। क्योंकि जहां २ धर्मका निषेध आवैगा वहां २ धर्म तो उपजीव्य रहैहीगा और अभाव उसका बाध कर नहीं सक्ता तौ फिर जगत्में निषेधको कहीं जगह न मिलैगी।

इसलिये ऐसे उपजीव्यके बाध वा विरोधको न मानकर यह कहना पडता है कि '**अस्थूलादि**' श्रुतियां कल्पितधर्मोंका निषेध करके निर्विशेष निर्धर्मक ब्रह्मकाही निरूपण कररहीं हैं। इसलिये ब्रह्म निर्विशेष है यही सिद्धान्त ठीक है।

११–इसपर एकदेशी कहता है कि यह तो समझमें नही आता क्योंकि एकवस्तुमेंही एककालमें धर्मोंका निरूपण, और उनका निषेध, संभव नहीं है। कोईभी अनुन्मत्त पुरुष, एकही घटको उसी समय कालाकहकर उसका निषेध नहीं करसक्ता। हां थोडे कालके अनंतर वही श्यामघट जब पाकसे रक्त हो जाय तौ कहसक्ता है कि यह श्याम नहीं है। इसी तरह एकही ब्रह्ममें धर्मोंका विधान, और निषेध, एकसमयमें नहीं करसक्ते। दोनों तरहकी श्रुतियोंको देखकर यह संदेह होता है कि सदा एकरस ब्रह्ममें कैसे धर्मोंका विधान हो सक्ता है और कैसे निषेध। और दोनों तरहकी श्रुतियोंकी संगति कैसे।

१२–इसपर मायावादी कहता है की दोनोंतरहकी श्रुतियोंकी संगति तो अध्यारोप और अपवादसे हो सक्ती है। जितनी ब्रह्ममें

धर्म प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियां हैं सब निषेध्य कोटिमें प्रविष्ट हैं। अर्थात् यद्यपि शुद्ध ब्रह्म तो निर्विशेष निर्धर्मकही है। तथापि अनादि मायाके संबंधसे वही ब्रह्म अपनी आत्मामें सर्वज्ञत्व कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि विशेष वा धर्मोंकी कल्पना करने लगता है। उसे शबल, मायावच्छिन्न, अविद्यावच्छिन्न, सोपाधिब्रह्म आदि नामसे कहते हैं। शुद्धब्रह्म निर्विशेष है। अतएव अज्ञानियोंकी बुद्धिका उसमें प्रवेश होना अतीव अशक्य है। क्यों कि '**यह जिसमें हो वह फलानी वस्तु है**' इस तरह किसी धर्मको लेकरही किसी वस्तुका ज्ञान हो सक्ता है। इसलिये वेदादिशास्त्र, चित्तशुद्धिरूप फल देनेवाली उपासनाके लिये सधर्मक श्रुतियोंद्वारा कल्पित धर्मयुक्त उस सोपाधिक शबल ब्रह्मका निरूपण करते हैं। यद्यपि वह निरवयव निर्धर्मक निष्क्रिय निराकार चिन्मात्र है। तथापि उपासनाके लिये श्रुतियां कल्पित धर्मोंका उसमें आरोप करती हैं। और जब उपासना द्वारा चित्तशुद्धि हो जाती है तब '**दशमस्त्वमसि**'[1] इस न्यायसे निर्विशेष वचनोंद्वारा उन कल्पित धर्मोंका अपवाद ( निषेध ) करती हैं। इससे उस ब्रह्मको स्वयं '**विस्मृतकंठमणि**'[2] न्यायसे अपने स्वरूपका ज्ञान होता है, अतएव वह मुक्त कहलाता है। वास्तवमें तो वह सदा नित्य मुक्त ही है। निर्विशेषकी उपासना

---

१—दशमनुष्योंमें अपने आपको न गिनकर जो सोच करता हो उसे अन्य कहै कि दशवां तू है तो उसे अपना ज्ञान हो जाता है। २—अपनी कंठमणिको भूलकर जो शोक करता हो उसे दूसरा कहै कि मणि तो तुह्मारे गलेमेंही है तो उसे अपनी मणिकी याद आजाती है।

हो नहीं सक्ती अतः कल्पित धर्मोंका ब्रह्ममें आरोप किया जाता है। और चित्तशुद्धिके अनन्तर उन धर्मोंका निषेध किया जाता है। जैसे द्वितीयाके दिन सूक्ष्मचन्द्रको दर्शन कराते समय दर्शक अपने सहचरको प्रथम चन्द्रके पासवाली शाखाका दर्शन कराता है। जब शाखाके सहारे वहां नेत्र पहुंच जाते हैं। तो फिर वह कहता है कि यह शाखा जिसको तुम देखरहे हो, चन्द्र नहीं है, किन्तु इसके ऊपर चन्द्र है। इसी तरह वेदादिशास्त्रभी प्रथम सविशेष वाक्यों द्वारा ब्रह्ममें कल्पितधर्मोंका आरोप करते हैं। और चित्त-शुद्धिके अनन्तर उनका अपवाद करते हैं। यद्यपि सोपाधिब्रह्म अर्थात् अज्ञानावच्छिन्न वा कल्पितब्रह्मकी उपासनासे मोक्ष नहीं मिलता केवल चित्तशुद्धि मात्र होती है। तथापि वेदने अज्ञानियों-कोभी चित्तशुद्धिद्वारा ब्रह्मज्ञान होजाय इसलिये कहीं २ उपास-नासे मोक्ष होनेका लालच देदिया है। जिसतरह भोले बालकको कडवीदवा पिलानेके लिये झूंठमूट लड्डू खिलानेका लोभ दिया जाता है। इसीतरह वेदभी मुख्य चित्तशुद्धिके लिये कल्पित ब्रह्मकी उपासना करनेका उपदेश करता है। परन्तु कहीं २ अर्थ-वादसे मोक्षफलभी कहदेता है। इसतरह अध्यारोपापवादसे दोनोंतरहकी श्रुतियां सार्थक हैं। और इसीलिये हमारे मतमें किसीतरह विरोध न होनेसे निर्विशेष निर्धर्मकही ब्रह्म है यह मत शुद्ध है। और **'नेदं यदिदमुपासते' 'अथात आदेशो नेति' 'परांचि खानि' 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' 'न चक्षुषा गृह्यते नाऽपि वाचा' 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यं' 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये**

स्पृशतः' 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो' 'अन्यदेवतद्विदिता-दथोऽविदितात्' 'यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः' 'यद्वाचाऽनभ्युदितं' 'अवचनैव प्रोवाच' 'अशब्द-मस्पर्शं' 'सहोवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिव-न्दंत्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमत-मोऽवाय्वनाकाशमसंगमस्पर्शमगन्धमरसमचक्षुष्कम-श्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखमनामाऽगोत्रम-जरममरमभयममृतमरजोऽशब्दमविवृतमसंवृतमपूर्व-मनपरमनन्तरमबाह्यं न तदश्नोति कश्चन न तदश्नाति कंचन' 'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते' 'न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरं' 'विभेद-जनकेऽज्ञाने नाशमात्यंतिकं गते। आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति' 'स वै न देवाऽसुरमर्त्यति-र्यङ् न स्त्री न षंढो न पुमान् न जन्तुः । नायं गुणः कर्म न सन्नचासन्निषेधशेषो जयतादशेषः' 'संसुसव-च्छून्यवदप्रतर्क्यम्' 'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्' इत्यादि शतशः श्रुतिस्मृतिसूत्रपुराणसमूहभी यही कह रहे हैं कि ब्रह्म अनिर्देश्य अनाकार अज्ञेय अग्राह्य सर्वविशेषशून्य निर्धर्मक चिन्मात्र है।

## ब्रह्मके विषयमें मायावादका 'केवलानुभूतिपक्ष'।

१३—वास्तवमें तो केवल अनुभूति (अनुभव-ज्ञान) ही ब्रह्म है

---

१—अनुभूति वा संवित्, ज्ञानका ही एकनाम है। उसे मायावादी निखालस अर्थात् लगावबिना मानता है । श्रीशंकराचार्यसे लेकर आज-

इसलिये ब्रह्म निर्विशेष है यह बात युक्तिसे अच्छीतरह सिद्ध होती है। 'घटोऽस्ति पटोस्ति ( घट है-पट है )' 'पटोऽनुभूयते घटोऽनुभूयते (घटपटकाअनुभव)' (किंवा घटपटको में जानता हूं) इत्यादि स्थलमें मालुम पडता है कि घटपट आदि समग्र पदार्थ जिसके अंदर आये हुए हैं वह सर्वव्यापक **'ज्ञानपदार्थ'** सबसे जुदाही है। घटपट आदि सर्व पदार्थोंके साथमें अनुभूति (ज्ञान) लगी हुई है। 'घटोऽस्ति' की जगह पटादिका व्यावर्तन (जुदाई) होती है और 'पटोस्ति' की जगह घटादिकी व्यावृत्ति (जुदाई) होती है। किन्तु अनुभव वा ज्ञान सबके साथ लगा है। उसकी व्यावृत्ति किसी अवस्थामें नही होती। **ज्ञान** स्वतन्त्र और सब परतन्त्र हैं। समय २ पर सर्व पदार्थ ज्ञानसे अलग होते रहते हैं, किन्तु ज्ञान किसीसे जुदा नही होता। अर्थात् ज्ञानकी सत्ता हमेशा है। अतएव स्वतन्त्र, अव्यावृत (जुदा न होता) सर्वत्र अनुवर्तमान, और सबमें मिला हुआ, एक **ज्ञान**ही परमार्थ और नित्य सत्य है। और वारेसर ज्ञानसे जुदे होनेवाले, क्षणिक, परतन्त्र, सर्व पदार्थ, अपरमार्थ और अनित्य हैं, मिथ्या हैं। सत्ता और अनुभूतिमेंभी किसीतरहका भेद नहीं है। क्योंकि अन्योन्याभाव कोही भेद कहते हैं। वह अभाव किसीके ग्रहण करनेमें आता नहीं। अतएव यह नहीं कह सक्के कि सत्ता और अनुभूति अलग २ है। और अनुभूति एकही पदार्थ है। भेदमात्र ग्रहण करनेमें नहीं आता अतएव यह कोई पदार्थही नहीं है। और

---

तकके शांकर वादियोंमें थोडा थोडा मतभेद है उनमें किसीका केवलानुभूति पक्ष है।

जात्यादियुक्त पदार्थका ज्ञान होनेके बाद भेद मालुम पडता है। और दो पदार्थका भेद मालुम हो जाय तौ जात्यादिका ग्रहण होय यह अन्योन्याश्रय होता है। इसलिये भेद दुर्निरूप है।

१४–घटपदादि सर्व पदार्थ ज्ञानके विषय होते हैं। उनका ग्रहण ज्ञानसे होता है। अतएव वह सब जड हैं। जो किसीका विषय होता है, अथवा जिसका ग्रहण अन्यसे होता है, वह जड है यह सिद्धान्त है। '**ज्ञान**' किसीका विषय नहीं होता। अतएव वह अजड है, चेतन है और स्वयंप्रकाश है। अनुभूति, अनुभव, ज्ञान और संवित् 'सत्' यह सब एक पदार्थ हैं। तौ यह सिद्ध हुआ कि किसीका विषय न होनेसे, अन्यके द्वारा ग्रहण न किये जानेसे अतएव स्वयंप्रकाश होनेसे, अजड होनेसे, चेतन होनेसे, नित्य और सत्य होनेसे, **अनुभूति** ( ज्ञान )ही ब्रह्म है। और वह निर्विशेष निर्धर्मक है शुद्ध है बुद्ध है नित्य मुक्त है। और इस निर्विशेष ज्ञानसे जुदे जितने पदार्थ हैं वह सब जड, अनित्य असत्य हैं, किंबहुना अज्ञानमात्र हैं। जैसे ज्ञान पदार्थ अनादि है इसीतरह '**अहं अज्ञः**' '**में अज्ञानी हूं**' इस अनुभवसे सिद्ध एक अज्ञानभी अनादि पदार्थ है। ज्ञानके अभावको नहीं किन्तु ज्ञानसे विरुद्ध पदार्थको अज्ञान कहते हैं। विरोधार्थमें नञ् है। जैसे मित्रके अभावको नहीं किन्तु मित्रके विरुद्धको अमित्र कहते हैं। भूतलसे जुदा अभाव पदार्थ कोई नहीं है यह तो हम प्रथम कह चुके हैं। इस लिये अज्ञानभी भावरूप अनादि सिद्ध पदार्थ है। यह '**अज्ञान**' सत् तथा असत् न होनेसे अनिर्वचनीय है। इसेही मिथ्या कहते

हैं। उसेही माया अविद्या मलिनसत्व शुद्धसत्व इत्यादि नामसे शास्त्रोंमें कहा है। वह अज्ञान ब्रह्मस्वरूप अनुभवका तिरोधान करनेवाला है। इसीसे ज्ञानको अपनेमें **मैं ज्ञाता हूं, सर्वज्ञ हूं, कर्ता हूं, भोक्ता हूं, अल्पज्ञ हूं सुखी हूं, दुःखी हूं** इत्यादि अनेक भ्रम होने लगते हैं। अतएव वह उस अवस्थामें ईश्वर, (शबल) जीव, आदिशब्दोंसे कहा जाता है। वास्तवमें तो न वो ज्ञाता है न कर्ता है न भोक्ता है न सर्वज्ञ है और न अहंप्रत्ययसे जाना जासक्ता है। अज्ञानसे युक्त ज्ञानही अहं-प्रत्ययवेद्य इत्यादि है। अर्थात् '**मैं**' इस समझसे समझा जाता है। किंबहुना ज्ञाता ज्ञेय जगत् आदि सब भ्रम मात्र हैं। वा-स्तवमें कुछ नहीं है। '**नासदासीन्नो सदासीत्**' इत्यादि प्रमाणोंसे वह अज्ञान अनिर्वचनीय है।

१५–कहनेका आशय यह है '**अहं आत्मानं जानामि**' 'मैं अपनी आत्माको जानता हूं' इस वाक्यमें, जो अहंरूप ज्ञाता, आत्मरूप ज्ञेय, और जानामि इत्याकारक **ज्ञान**, इन तीन जुदे २ पदार्थोंकी प्रतीति हो रही है, वह केवल अज्ञानसे हो रही है। ज्ञाता ज्ञेय अहं इत्यादि सब उस अज्ञान अर्थात् विविध विक्षेपकरी माया ( अज्ञान ) का ही कार्य है। '**अहं जानामि** इत्यादिमें जो आत्माका अहंवेद्यत्व और ज्ञातापन मालुम पडता है वह शुक्तिशकलके चांदीपनकी तरह भ्रान्ति मात्र है। ज्ञानका स्वयं अपनेमें कर्तृपन युक्त नहीं होता। ज्ञानके कर्ताकोही ज्ञाता कहते हैं। क्रिया हमेशां आत्मासे जुदेमें होती है। क्रिया, विकार है अतएव वह अचिद् ग्रन्थि अहंकार

में रहती है। अहंकारस्थ और विकारस्वरूप ज्ञानक्रियाका कर्तृपन, साक्षी और चेतनमात्र आत्मामें कैसे रह सक्ता है। **'अहं आत्मानं जानामि'** यहां कर्म संज्ञाभी, शुद्ध आत्मा और अज्ञानावच्छिन्न आत्मा मानकर होती है। अन्यथा ऐकही पदार्थकी कर्मसंज्ञा और कर्तृसंज्ञा संगत नहीं होसक्ती। इस लिये शुद्ध आत्मा ज्ञाता नहीं है।

१६–जैसे ज्ञानकी अनुवृत्ति हमेशां रहती है अर्थात् गाढ सुषुप्तिमें और मूर्छामें भी साक्षी **ज्ञान** उपलब्ध होता है इस तरह **अहं** पदार्थ, मूर्छा और सुषुप्तिमें उपलब्ध नहीं होता। इसलिये **'अहं'** आत्मा नहीं, और आत्मा अहंप्रत्यय गोचर नही है। यदि वह अहंपदका गोचर ( विषय ) हो तो वह जड कहा जायगा। यदि हठाग्रहसे आत्माको अहंपद गोचर और कर्ता मानोगे तो उसेभी देहकी तरह जडपन और अनात्मपन हो जायगा। जैसे अहं प्रत्यय गोचर और कर्तापनसे प्रसिद्ध **शरीर**से जुदाही आत्मा स्वर्गादिका भोक्ता है, यह प्रामाणिकोंकी प्रसिद्धि है। इसी तरह कर्तृपनसे प्रतीत और अहंपदसे जुदाही साक्षी आत्मा है। सुषुप्ति और मूर्च्छासे उठा मनुष्य कहता है कि **'मैं ऐसा बेहोश हुआ कि अपनेकोभी न जान सका'**। यदि सुषुप्तिमें और मूर्च्छामें अहंभी होता तो यों न कह सक्ता कि **'मैं मुझे न जानसका'**।

---

१–दूसरेमें समवायसंबधसे रहनेवाली क्रियाका फल जहां सम्पूर्ण होता हो उसकी कर्म संज्ञा होती है। जैसे **'चैत्रो ग्रामं गच्छति'** यहां चैत्रकी क्रिया ग्राममें सम्पूर्ण हुई अतः ग्राममें द्वितीया हुई।

परन्तु सुषुप्तिआदिमेंभी न जाननेका साक्षी ज्ञान तो है ही। इसलिये अहंप्रत्यय गोचर नही किन्तु **अहंसे** जुदाही साक्षी **ज्ञान**रूप आत्माही ब्रह्म है, नित्य है, सत्य है । और उसके अतिरिक्त सब भ्रम है। **'अनृतेन हि प्रत्यूढाः' 'तम आसीत्तमसागूढमग्रे' 'तस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्' 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'** इत्यादि श्रुतियोंसे और **'अहमज्ञः'** इस अनुभवसे सिद्ध माया अविद्या आदि शब्दोंसे कहनेलायक अनिर्वचनीय **अज्ञान**ही/ अहंभाव, ज्ञातृभाव, जीव, ईश्वर, जगत् आदिका कारण है, । और ऐसा भाव होनाही आत्माका बंध कहलाता है। जब उसे **'विस्मृतकंठमणिन्याय'**से अपने स्वरूपका स्मरण होता है । अर्थात् **'अस्थूलमनणु' 'नेतिनेति'** आदि उपनिषत् श्रवणद्वारा अज्ञानकी निवृत्ति होती है तो वह मुक्त कहलाता है । वास्तवम तो बन्धमोक्ष आदि व्यवस्थाभी अज्ञानमात्र है ।

१७–यहां यह प्रश्न हो सक्ता है कि **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** इस स्वरूपलक्षण श्रुतिमें तो सत्यज्ञानादि धर्मयुक्त ब्रह्मका निरूपण है । और आप उसे निर्धर्मक कैसे कहते हो। तौ उसका यही उत्तर है कि किसी पदार्थकाभी ज्ञान लक्षणसे होता है। और लक्षणका यह काम है कि वह लक्ष्येतर[1] समग्रपदार्थोंको दूरकर लक्ष्यमात्रको[2] बतावै । यहां **'सत्यं ज्ञानं अनन्तं'** यहभी जब ब्रह्मका लक्षण है, तौ अवश्य यह तीनो पद ब्रह्मेतर समग्र पदार्थोंको दूरकर केवल ब्रह्ममात्र अर्थकाही

१–लक्ष्यसे जुदे । २–जिसका लक्षण किया जाय ।

ग्रहण कराते हैं। '**सत्य**' यह पद विकारके स्थान समग्र असत्य पदार्थोंको दूरकर सबसे [1]व्यावृत्त एक केवल ब्रह्मकाही बोध कराता है। और '**ज्ञानं**' यह पद अन्याधीन प्रकाश अर्थात् जिनका प्रकाश (ज्ञान) अन्यके अधीन है, अन्यके विषय होनेवाले जड पदार्थोंको दूरकर जड वस्तुसे व्यावृत्त ( जुदे ) केवल ब्रह्मको कहता है। तथा '**अनन्तं**' यह पदभी देशकाल और वस्तुसे परिच्छिन्न ( नये हुए ) पदार्थोंको दूरकर परिच्छिन्न वस्तुसे व्यावृत्त, केवल ब्रह्मकाही निरूपण करता है। और इस तरह अनेक पद रहतेभी एक केवल ब्रह्मका निरूपण करनेसे तीनो पदोंकी एकार्थपरता अथवा एकवाक्यता होगई । यदि यहां यह शंका हो कि सत्यादि पदका जो यह '**असत्यादि-व्यावृत्त**' अर्थ करते हो सो '**व्यावृत्ति**' भावरूप धर्म है, वा अभावरूप धर्म ?। दोनो तरह माननेमें ब्रह्म सधर्मक होता है। तौ उसका यही उत्तर है कि सत्यादिव्यावृत्ति न भाव है न अभाव, किन्तु वह ब्रह्म ही है । जैसे शुक्ल रंगका निरूपण करनेके लिये किसीने कहा कि वह कृष्णादि सब रंगोंसे व्यावृत्त है, तौ यहां वह व्यावृत्ति, अर्थात् शुक्ल रंगही समझा जाता है। इसीतरह सत्यादि पदोंसे व्यावृत्ति कोई भाव वा अभाव नहीं समझा जायगा किन्तु सकल पदार्थोंसे जुदा ब्रह्म ही समझा जांयगा। इस तरह सत्यादि तीनो पद एक वस्तुका अन्य सकल पदार्थोंसे जुदापन दिखाते हुए सार्थक हैं, और एकार्थक हैं।

---

१-जुदा।

और इस युक्तिसे भी **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** आदि श्रुतियोंमें निर्विशेष निर्धर्मक ब्रह्मका ही निरूपण है।

( लम्बा चौडा उत्तर पक्ष )

## ब्रह्मविषयमें कीहुई, मायावादकी कल्पनाओंका खण्डन।

१८–हम इस ग्रंथके पूर्व भागमें युक्तियोंका उत्तर युक्तियोंसे देकर यह सिद्धकर चुके हैं कि मायावादका संपूर्णभार बुद्धि-वादपर है। और बुद्धिवादका यह स्वभाव है कि वह सुन्दर मोहक और प्रामाणिकसा जचने लगाता है। किन्तु थोडाभी विचार करनेपर उसका मिलान श्रुतिस्मृतियोंसे किया जाय तो वह अप्रामाणिक असत्य और इन्द्रजालसा मालुम पडने लगता है। मायावादियोंके इस ऊंटकी तरह लंबे पूर्वपक्षकीभी यही दशा है। मायावादमें श्रुतियोंको तोडमरोडकर किस तरह उनका अर्थ अपनी युक्तिओंमें मिलानेका प्रयत्न किया है यह हम पीछे बतावेंगे, किन्तु प्रथम इसकी युक्तियोंकाही मूल्य किये देते हैं।

१९–जो[2] लोग यह कहते हैं कि चित्त शुद्ध होनेके लिये उपासनार्थ सोपाधिक वा सधर्मक ब्रह्म माना है, उनसे यह

---

१–जो लोग एक बातको युक्तिमात्रसे सिद्धकर और फिर उसमें श्रुतियोंको लगाना चाहैं वह बुद्धिवादही कहा जाता है। क्योंकि वहां युक्तियोंको प्राधान्य है। और जो श्रुतिशास्त्रसे किसी बातको सिद्धकर उसके समझाने को युक्तिभी देदें वह ब्रह्मवाद है क्योंकि वहां केवल शास्त्रकोही प्राधान्य है। २–अत्र मिथ्यावादी प्रष्टव्यः। जगत्कर्तृत्वेशितृत्वादिविशिष्टनिर्विशेषयो र्भेदमङ्गीकरोष्युताऽभेदम्–भेदपक्षेपि तात्विकमतात्विकं वा। न तावदाद्यः

पूछना है कि निर्विशेष शुद्ध ब्रह्म और सोपाधिक ब्रह्म, दोनोंमें परस्पर भेद है वा अभेद ? । अर्थात् कर्तृत्वभोक्तृत्व धर्मविशिष्ट शवलब्रह्म और सर्वधर्मरहित निर्विशेषब्रह्म, यह दोनो बिलकुल अग्निजलकी तरह जुदे हैं वा एकही हैं, और जुदे हैं तौभी किसी उपाधिके कारण दोनोंका भेद मानते हो वा वास्तवमें जुदे ही हैं ? । वास्तवमें जुदे हैं यह तो कह नहीं सक्ते क्योंकि दोनोंका वास्तव भेद मानोंगे तो अद्वैतकी जगह द्वैत हो जायगा । और **'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्'** इस व्याससूत्रसे विरोध होगा । वेदान्तसूत्र व्याससूत्र वा उत्तरमीमांसासूत्र, मन्दमध्यमाधिकारियोंको परस्पर विरुद्धसी दीखतीं श्रुतियोंके विरोध और संदेहको दूर करनेके लिये निर्माण किये गये हैं । तौ उक्तसूत्रभी छान्दोग्योपनिषत्के पञ्चमप्रपाठकके **'स क्रतुं कुर्वीत मनोमयः प्राणशरीरः'** इत्यादि वाक्यका संदेह दूरकरनेके लिये प्रवृत्त हुआ है । यहां मनोमय और प्रमाणशीर इन दो पदोंके होनेसे यह संदेह होता है कि इस वाक्यमें उपासना करने लायक जीव है वा ब्रह्म है । पूर्वपक्षी कहता है कि मनोमय और प्राण शरीर होनेसे उपासना करने लायक जीवही है । इसके उत्तरमें वेदव्यासजी कहते हैं कि 'सर्ववेदान्तोंमें मनोमय प्राणशरीर जो सर्वान्तर्यामी स्वरूप प्रसिद्ध एक ब्रह्म है' उसकीही मननद्वारा उपासना करनेका उपदेश किया है । मनोमय और प्राणशरीरका यहां यह अर्थ है कि जो विशुद्धमनसे ग्रहण किया जाय और

---

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशादित्यधिकरणविरोधात्, इत्यादि । न द्वितीयः सतूपाधितकृत एव संभवति, घटादिकृत इवाकाशस्य । प्रकृते तादृश उपाधिः कः ।

प्राणोंका आधार अथवा नियन्ता, किंवा आनन्दमय विग्रह । अब यदि उपास्य–( औपाधिक-शबलब्रह्म ) ब्रह्म और निर्विशेषका परस्पर वास्तव भेद मानोंगे तो इस व्याससूत्रका स्पष्टविरोध आवैगा । क्योंकि इस सूत्रमें प्रसिद्ध एकही ब्रह्मको उपास्य कहा है और तुम उपास्यको जुदा मानते हो । इसलिये शुद्ध ब्रह्म और औपाधिक शबल ब्रह्ममें वास्तव भेद नहीं मानसक्ते । यदि अवास्तव भेद मानकर उपाधिके वश दोनोंका परस्पर भेद मानो तौभी युक्त नहीं । एक आकाशकाभी घट, मठ, आदि उपाधिद्वारा भेद गिना जाता है इसी तरह यदि दोनों ब्रह्मका उपाधिसे भेद मानते हो तौ भी यह प्रश्न उठता है कि वह परस्पर भेद करानेवाली उपाधि कौन है ? । और उसके ग्रहण करनेकी ब्रह्मको क्या अवश्यकता पडी । यदि अनादि माया ही भेदका कारण है ऐसा कहो तौ भी युक्त नहीं क्योंकि एक माया और दूसरा ब्रह्म यह स्पष्ट द्वैत होजायगा यह बात हम पूर्वभागमें सिद्धकर चुके हैं । और उपाधिसे भेद माननेमें 'सदेव-सौम्येदमग्र आसीत्' इस श्रुतिका विरोध आता है ।

माया आदिको असत्य मानकर जो अद्वैत सिद्ध करना चाहा है उसका खंडन आगे लिखेंगे ।

**'सदेव सौम्येद'** श्रुतिमें सृष्टिके पूर्वमें अन्यकी सत्ताका निषेधकर एकमात्र ब्रह्मका होनाही कहा है । **'सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत्'** अर्थात् 'परमात्माने सब तरफ देखकर

---

मायैवोपाधिः सचाऽनादिरेवेतिपक्षस्त्वसंगत एव इत्यादि । सदेव सौम्येद-मग्र आसीदिति श्रुतिविरोधश्च । किंच त्वन्मतेप्युपहितस्योपाध्यधीनतया

अपने सिवा अन्यको न देखा' यह श्रुतिभी सृष्टिके पूर्व ब्रह्मके सिवा अन्यका होना मना कररही है। अब यदि शुद्ध और शबलब्रह्ममें उपाधिके कारण परस्पर भेद मानोगे तो सृष्टिके पूर्व एक मायारूप उपाधिभी अवश्य मानना पडेगा तो इस श्रुतिका विरोध स्पष्ट होता है । वास्तवमें तो मायावादमें **'जीवईशो'** इस प्रतिज्ञाके अनुसार ६ वस्तुएं अनादि मानी हैं तौ स्पष्ट द्वैत और उक्तश्रुतियोंका विरोध किया है।

२०—अन्तःकरण अविद्या वा मायारूप उपाधियुक्त, शबल ब्रह्मका कर्ता भोक्तापन् माननाभी सिद्ध नहीं होता, कर्ता हमेशा स्वतन्त्र होता है, किन्तु मायावादिलोग **'मायाके वश होकर ब्रह्म कर्ता है'** यह कहते हैं। इसलिये परतन्त्रका कर्तृत्वही सिद्ध नहीं होता, क्योंकि सोपाधिब्रह्म उपाधिके परतन्त्र है। यदि राजा और सिपाहीका दृष्टान्त देकर कहो कि यद्यपि राजा और सिपाही परस्पर एककी अपेक्षा रखतेभी कर्ता हैं ही, तौभी काम चलता नहीं क्योंकि ऐसा माननेमें वह कर्तृत्व उपाधिमेंही रहैगा जैसे कोई मनुष्य घटको लेजाता हो वहां वह चलनक्रिया आकाशमें नहीं किन्तु घटमें हो रही है, आकाशतो निष्क्रिय है, व्यापक है, अतएव वहांही रहजाता है किन्तु घटमात्रमें क्रिया होती है । इसी तरह उपाधियुक्तको कर्ता माननेमें वह कर्तृत्व उपाधिमेंही रहैगा किन्तु ब्रह्ममें न आसकैगा । इसलिये

---

स्वातन्त्र्याभावात्कर्तृत्वाऽनुपपत्तिः । भवेद्वा उपाधावेव स्यान्नतूपहिते, घटक्रियेव एवमस्त्विति चेन्न, 'यतो वा इमानि भूतानि' 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि' 'सन्मूलाः सौम्येमाः' इत्यादिश्रुतिस्मृतिन्यायव्याकोपात् इत्यादि । विशे-

सोपाधिब्रह्म कर्ता है यहभी नहीं कहसक्ते । यदि कहो कि भलै उपाधिही कर्ता सही ब्रह्म न सही तौ फिर **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' 'सन्मूलाः सौम्येमाः प्रजाः प्रजायन्ते' 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते'** इत्यादि बहोतसी श्रुतियोंका विरोध आवैगा । और उपाधिकोही कर्ता माननेसे अर्थात् अन्तःकरण माया अविद्या वा सब अचेतन पदार्थोंको कर्ता माननेसे पत्थर भित्ति आदिकोभी कर्ता मानना पडैगा यह बुरी छनेगी । इसीसे **'ब्रह्ममें आरोपित कर्तृत्वादि धर्म हैं'** यह पक्ष भी समालोचित समझो, क्योंकि कूपमेंही जल नहीं तौ लोटेमें कहांसे आवै । अर्थात् जब प्रकृति वा उपाधिमेंही कर्तृत्व धर्म नहीं तौ फिर उसका आरोप, ब्रह्ममें कहांसे किया जाय । यदि कहो कि हम केवल उपाधिको कर्ता नहीं कहते किन्तु 'उपाधिके संबंधसे अकर्ताभी ब्रह्म कर्ता होजाता है' यह कहते हैं । अजी वाह!! कही तो ठीक!! लेकिन् विना विचारे कही क्योंकि उपाधिसंबंधसे जब अकर्ताभी कर्ता हो जाता है तौ फिर स्त्रीसंपर्कसे नपुंसकभी आपके मतमें पुत्र पैदा करनेवाला हो जायगा । युक्ति तो अच्छी प्रतिष्ठा रखनेवाली निकाली!!!

**२१–'ब्रह्मके विशेष अथवा तो सर्व धर्मविकारादि उपासनाके लिये अविद्यासे कल्पना किये गये हैं'**

---

पाणामविद्याकल्पितत्वं वदन्वादी प्रष्टव्यः, का सा अविद्या, जीवगता ब्रह्मगता वा यत्कल्पिता विशेषाः । नतावदाद्यः । तस्या ब्रह्मगतधर्मकल्पने सामर्थ्याभावात् । कल्पना हि शुद्धब्रह्मणि वाच्या । तादृशस्य मनोवचसोरप्यविशेषत्वे-

यह कहनाभी छलसा प्रतीत होता है। क्योंकि यहा यह प्रश्न होता है कि जिससे ब्रह्मके धर्मोंकी कल्पना की जाती है वह कल्पना हेतु माया वा अविद्या जीवमें है वा ब्रह्ममें ? । **'अविद्या जीवमें रहकर ब्रह्मधर्मोंकी कल्पना करती है'** यह उत्तर तो असंगत होगा, क्योंकि हमेशां दृश्य और अनुभूत पदार्थमेंही कल्पना होती है किन्तु आपके मतमें तो, ब्रह्म मन वचन और नेत्रादिसे अतीत है, अर्थात् अदृश्य है अचिन्त्य है अवाच्य है । तौ फिर ऐसे ब्रह्ममें जीवगत अविद्या, धर्म वा विशेषोंकी कल्पना कैसे कर सक्ती है । और यह वात युक्तभी है क्योंकि **'परांचि खानि'** अर्थात् 'ब्रह्मदर्शनमें अविद्यासंवंधी इन्द्रिय असमर्थ हैं' इस श्रुतिद्वारा ब्रह्मको अविद्यावदिन्द्रियोंको अगोचर कहकर **'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्' 'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः'** इत्यादि श्रुति तथा **'यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः'** इत्यादि स्मृतियोंद्वारा यह कहा है कि ज्ञानवान् की अविद्यारहित इन्द्रियां ब्रह्मका दर्शन कर सक्ती हैं। तौ सिद्ध हुआ कि जब अविद्यावाली इन्द्रिय वहां पहोंचही नहीं सक्तीं तौ फिर जीवगत अविद्याही ब्रह्ममें धर्मोंकी कल्पना करती है यह पक्ष असंगत है । यदि कहो कि **'उस समयमें थोडी**

---

नाधिष्ठानज्ञानाभावाज्जीवस्य तस्याः–संबंधस्तु दूरतरः । परांचि खानीत्यनेनाविद्यासंबंधीन्द्रियाणामविषय इत्युक्त्वा तद्रहितेन्द्रियविषयत्वं 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृतचक्षुरमृतत्वमिच्छन्' इत्यनेन निरूप्यते इत्यादि । वस्तुतस्तु ब्रह्मधर्माः सर्व एवानागन्तुका एव यतो नित्याः । श्रुत्या तथैव निरूप-

**अविद्या है, इसीसे तो द्रष्टा और दृश्य यह द्वैत बना रहता है'** तौ भी युक्त नहीं क्यों कि प्रायः सबके मतमें विशेषकर आपके मतमें ज्ञान होनेपर अविद्याका समूल नाश माना है। और **'कश्चिद्धीरः' 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' 'यद्वि पश्यन्ति'** इत्यादि वचनोंमें **'धीर' 'अतिमृत्युमेति' 'गुणापाये'** इत्यादि शब्दोंसे पुरुषज्ञानानंतर अविद्यासत्ताका स्पष्ट निषेध किया है। इसलिये जीवगत अविद्या, ब्रह्ममें धर्मोंकी कल्पना करती है यह बात असंगतही ठहरी।

२२–वास्तवमें ब्रह्मके धर्म आकारादि सर्वविशेष, अनागन्तुक हैं, स्वाभाविक है, और ब्रह्मसे अभिन्नभी हैं यह बात श्रुतिमें ही कही है।

'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'

अर्थात्। 'उस ब्रह्मको कुछ कर्तव्य नहीं है। और जीवकी तरह स्वरूपसे भिन्न इन्द्रिय आकारादिभी नहीं हैं। और उसके समान, अथवा अधिक भी अन्य कोई नहीं है। इस ब्रह्मकी

---

णात्। 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' तत्संबंधि यत्किञ्चित्कार्यं जन्यं नास्ति किन्त्वजन्यमेव। किंच तस्येतिषष्ठ्या भेदो निरूप्यते। तथाच जीववत्स्वरूपातिरिक्तज्ञानक्रियादिषु करणमिन्द्रियादिकमपि तस्य नास्ति। आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादित्वात्। इत्यादि.

विद्वन्मण्डनम्.

स्वाभाविक ज्ञान बल क्रिया आदि अनेक प्रकारकी विचित्र शक्तियां हैं'। तौ इस श्रुतिसे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्मके धर्म आकार उसकी शक्ति सब स्वरूपात्मक हैं और स्वाभाविक हैं। और ब्रह्म सधर्मक है। और जो मायावादी लोग '**तत्वमसि श्वेतकेतो**' यहां जहद्जहल्लक्षणा करते हैं वह भी इस पूर्वोक्त श्रुतिवाक्य-सेही खण्डित समझना चाहिये क्योंकि हेयोपादेय भागके विना लक्षणा होती नहीं और ब्रह्मके स्वाभाविकधर्म हेय होसक्ते नहीं।

२३—यद्यपि हम प्रथम भागमें 'तत्वमसिमें उक्त लक्षणाका खंडन करचुके हैं तथापि प्रसंग आजानेसे कुछ अवशिष्ट बात और कहे देते हैं। प्रायः सर्व शास्त्रोंमें, '**जहल्लक्षणा, अजह-ल्लक्षणा,** और **जहद्जहल्लक्षणा**' यह तीन लक्षणायें मानी हैं। जहां शक्य ( अक्षरोंसे निकलता ) अर्थका त्याग करना पडै उसे '**जहल्लक्षणा**' कहते हैं। जैसे '**गङ्गायां घोषः**' अर्थात् 'प्रवाहमें गोशाला' यहां प्रयोजनाऽनुपपत्तिसे **प्रवाहमें** इस शक्या-र्थका परित्याग करना पडता है अतएव इसे **जहल्लक्षणा** कहते हैं। '**तत्त्वमसि**' श्रुतिमें '**तत्**' पदका सर्वज्ञ आदि अर्थ है और '**त्वं**' पदका अल्पज्ञ आदि अर्थ है। अब यदि यहां सर्वज्ञ आदि अर्थका परित्याग करैं तो 'ब्रह्मको अल्पज्ञ असत्य अज्ञान दुःखस्वरूप मानना पडैगा इसलिये जहल्लक्षणा नहीं हो सक्ती। जहां शक्यार्थका परित्याग न करना पडै वह अजहल्लक्षणा कह-लाती है। इसलिये वहभी यहां संभव नहीं है, क्योंकि '**तत्**' पदके सत्यज्ञानानन्द अर्थोंका त्याग न करनेसे धर्म और धर्मी मिलकर तुम्हारे मतमें द्वैत हो जायगा। जो कि तुह्में जहरकी

तरह मालूम पडता है। जहां हेयोपादेय भाग हो वहां तीसरी लक्षणा होती है। अर्थात् जहां कुछ त्याग किया जाय और कुछ ग्रहण किया जाय उसे जहद्जहल्लक्षणा कहते हैं। जैसे '**सोयं देवदत्तः**'। परन्तु '**तत्वमसि**' '**सत्यंज्ञानमानन्दं**' इत्यादि स्थलमें सर्वज्ञत्व, सत्य, ज्ञान, आनंद, कर्तृत्व, आदि शक्यार्थोंका परित्याग नहीं करसक्ते क्योंकि यह सब ब्रह्ममें स्वाभाविक हैं उनका त्याग कभी नहीं हो सक्ता। '**यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः**' '**सत्यकामः सत्यसंकल्पः**' '**स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च**' '**अविनाशी वा अरे अयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा**' इत्यादि वेदवाक्योंमें ब्रह्मको स्वाभाविक नित्य सत्य धर्मयुक्त कहा है। अतएव हेयोपादेय भाग न होनेसे लक्षणा नहीं हो सक्ती। लोकमें किसी स्वाभाविक शक्तिका किसी दृढयुक्तीसे भी निषेध नहीं हो सक्ता। वायु जल और अग्निके, स्पर्श और दाहधर्मका कोईभी अनुन्मत्त तर्ककुशलपुरुष निषेध नहीं कर सक्ता।

२४—लक्षणा माननेमें विशेष विरोध तो यह आता है कि जहां किसी तरहका संबंध हो वहां ही लक्षणा की जा सक्ती है। परन्तु मायावादसंमत निर्विशेषब्रह्ममें किसी तरहका संबंध न होनेसे कल्पनाकी कल्पना करनाभी भ्रममात्र है। यदि कहो कि शाखाचन्द्रन्यायकी तरह कल्पित संबंध मानकरभी लक्षणा होसक्ती है, तौ भी युक्त नहीं। क्योंकि दृष्टान्त दार्ष्टान्त मिलते नहीं। परस्पर संबंधी कहलानेवाले शाखा और चन्द्र दोनो दृश्य हैं अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण गोचर हैं सविशेष हैं। किंतु निर्विशेष असत्तुल्य अदृश्य ब्रह्ममें सम्बन्धकी कल्पना और

लक्षणा होना असंभव है । कोईभी अनुन्मत्त शशशृंग-सदृश वस्तुमें कल्पना नहीं करता । किंवहुना जहां वाच्यत्व धर्म हो वहांही लक्षणा होती है, और ब्रह्म निर्धर्मक है इसलिये वहां वाच्यत्व धर्म न होनेसे लक्षणा मानना भी केवल विवेकाभावही समझना चाहिये । अद्वैताभिमानियोंसे इतनाही पूछना है कि आप **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** इस स्वरूपनिरूपक श्रुतिके सत्यादि पदोंको ब्रह्मके स्वरूपवाचक मानते हो वा गुण-वाचक? । यदि स्वरूपवाचक मानो तो सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, अनन्तस्वरूप, इस तरह त्रिविध ब्रह्म होनेसे अद्वैतमतका भङ्ग होता है । और सत्यादि पदोंसे कहने लायक होनेसे ब्रह्मको सविशेष मानना पडैगा, जो आपको अनिष्ट है । यदि कहोकि सत्यादि पद ब्रह्मके गुणवाचक हैं, तौ भी अनिष्टापत्ति होगी क्यों कि गुणीके बिना गुण रहता नहीं अतः गुणसे जुदा स्वरूप अवश्य मानना पडेगा । इसलिये **'तत्वमसि'** **'सत्यंज्ञानं'** आदि श्रुति-योंमें लक्षणा माननाभी अविवेक मधुर है । यदि कहोकि इस तरहसे यहां हम लक्षणा नहीं मानते किन्तु दूसरी तरहसे मानते हैं। सत्यादि श्रुतिके सत्यादि पद असत्यादि व्यावर्त्तक हैं । अर्थात् ब्रह्मके सत्यादि विशेषण ब्रह्ममें असत्याभाव, जडाभाव और दुःख भा-वका, निरूपण करते हैं । नकि सत्यादि विशेषोंका निरूपण करते हैं । किन्तु यहभी माननेसे दोषमुक्ति न हुई। प्रथमतो **'ब्रह्म असत्याभाववाला है'** यह सविशेषता बनाही रही । और यदि हम **'अस्तुन्यायसे'** मानभींलें कि ब्रह्म सविशेष न हुआ तौभी यह प्रश्न होता है कि इसतरहभी इस श्रुतिसे ब्रह्म कहने लायक

है वा नहीं ? । यदि '**ब्रह्म वाच्य है**' यह कहो तो सविशेषता छूटती नहीं और जो कहो कि ब्रह्मवाक्य गोचर नहीं है, तौ फिर अर्थात् ब्रह्म अनिर्वचनीय हुआ । और अनिर्वचनीयको आप लोग मिथ्या मानते हो, तौ आपके मतमें ब्रह्मकोभी मिथ्या मानना पडैगा । इसलिये ब्रह्म निर्विशेष निर्धर्मक है यह पक्षतो बिलकुल परिहासके पात्र है । यहां इसतरह अनुमानभी होसक्ते हैं । ब्रह्म मिथ्या है, अनिर्वचनीय होनेसे, जो अनिर्वचनीय होता है वह मिथ्या होता है, तुह्मारे मतकी मायाकी तरह ।

**मायावादमें माने हुए अनुभूतिपक्षका खण्डन ।**

२५—अनुभूतिको निर्विशेष सिद्धकर ब्रह्मकोभी निर्विशेष सिद्धकरना यहभी अन्धेकी लकडी जन्मान्धके हाथमें देनेके बराबर है। क्यों कि प्रथम अनुभूतिही निर्विशेष सिद्ध नहीं हो सक्ती, तौ फिर उससे परब्रह्मकोभी निर्विशेष सिद्ध करना तो बेपरकी उडाना है । जो लोग निर्विशेष वस्तुके माननेमें हठाग्रह करते हैं, उनके मतमें निर्विशेष वस्तुके होनेमें कोईभी प्रमाण नही हो सक्ता । क्यों कि प्रमाणमात्र किसी विशेषसे युक्त वस्तुका ही बोध करासक्ते हैं । शशशृंग अथवा आकाशकुसुम सर्व विशेषोंसे रहित है। अतः उनमें किसी प्रमाणको अर्थबोधकता नहीं है । अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाण, निर्विशेष शशशृंगादिका निरूपण नहीं करसक्ते । इसी तरह यदि अनुभूति वा ब्रह्म निर्विशेष है, तो ऐसे ब्रह्ममें किसी प्रमाणका प्रवेश नहीं हो सक्ता । जब कोई प्रमाण ब्रह्मका निरूपण नहीं करसक्ता तौ फिर ब्रह्मकी सत्तामें ही सन्देह है । यह रीति है कि जो वस्तु किसी प्रमाणसे न कही जाय अवश्य

उसकी सत्तामें भी सन्देह है । 'यदि कहोकि अनुभूति स्वानुभव सिद्ध है उसे किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है' । तौ यहभी एक तरह सिरकी बीमारी हुई जिसमें सच झूंटकी परीक्षा मुश्किल हो जाती है, अथवा '**कुल्हडीका गुड समझो**' । वास्तवमें तो अनुभव मात्र '**इदंत्वादि**' यत्किंचिद्विशेषसे युक्तही होते हैं । '**इदमहमदर्शं**' 'यह मैने देखा' इत्यादि स्थलमें अनुभव सविशेष ही होता है । यदि व्यावृत्तिवाली युक्तिसे अनुभूतिको निर्विशेष सिद्ध करते हो तौ भी कहना पडैगा कि अन्य विशेषोंका वा धर्मोंकी व्यावृत्ति अथवा निरासभी किसी विशेषयुक्त वस्तुसेही हो सक्ती है, निर्विशेषसे नहीं । निर्विशेषसे अन्यकी व्यावृत्ति तो दूर रहै, प्रथम उसके होनेमें ही सन्देह रहता है । 'सबका निषेध करते करते जो बचजाय वही ब्रह्म' ऐसा कहो तौभी संदेहही रहा, वस्तु निश्चयतो किसी तरह नहीं हुआ ।

२६–हमें जिज्ञासा होती है कि—

विशेषोंका वा धर्मोंका न रहना यह ब्रह्मका स्वभाव वास्तव है कि नहीं? । यदि कहोकि वास्तव है । तौ फिर जिस ब्रह्मका धर्मोंका न रहना स्वभाव, नित्य है तो फिर उसे निर्धर्मक बताना वा निर्विशेष कहना सरासर भूल है । क्यों कि जो स्वभाव उसका वा उसमें रहता है वह भी तो धर्म है । अच्छा चलो, कहिये तो–निर्विशेष ब्रह्मका ज्ञान, प्रत्यक्षसे वा अनुभवसे होता है कि नहीं? । और जिस अनुभवसे ज्ञान होता है वह अनुभव ब्रह्मका अपना ही है वा किसी दूसरेका? । यदि कहोकि ऐसे ब्रह्मका ज्ञान प्रत्यक्षादिसे होता है तौ फिर जितनी ब्रह्मनिरूपण करनेवाली

श्रुतियां है सब कही बातको कहनेवाली होनेसे आपके मतमें अप्रमाण हो जायगी। और यदि कहो कि ब्रह्मका ज्ञान प्रत्यक्षादिसे नहीं होता तौ फिर शून्यवादी और आप दोनो सहोदर भाई हो। क्यों कि शब्दतो निर्विशेष वस्तुका बोध करा सक्ता नहीं यह हम आगे कहेंगे।

२७–यहभी नहीं कह सक्ते कि 'ब्रह्मको अपनें अनुभवसेही उसका ज्ञान होता है क्यों कि अपनेमें आपको ही कर्मत्व और कर्तृत्व हो नहीं सक्ता' यह आपही कह आये हैं। यदि कहो उसका ज्ञान दूसरेके अनुभवसे होता है तौभी आपके मतसे दूसरेका विषय होनेसे वह जड कहा जायगा।

२८–शब्दतो विशेषकर सविशेष वस्तुका ही निरूपण कर सक्ता है, क्यों कि उसकी प्रवृत्ति ही पद वाक्य और संबंध द्वारा होती है। यदि ज्ञेय वस्तुमें कोई संबंध विशेष न हों तो फिर शब्द उसका ज्ञान नहीं करा सक्ता। प्रकृति और प्रत्ययके योगकोही पद कहते हैं। प्रकृति और प्रत्ययका अर्थ पलट जानेसे पदही किसी विशिष्टार्थका प्रतिपादन करने लगा है। जब अर्थका भेद होता है, तबही पदकाभी भेद होता है। किन्तु वाच्य वस्तुके पलटनेसे शब्द और अर्थ दोनो पलट जाते हैं, यह अनुभव सिद्ध है। तो **'रामः'** इत्यादि पदभी किसी विशेष युक्त वस्तुकाही निरूपण करसक्ते हैं। नकि निर्विशेषका। पदके समूहको वाक्य कहते हैं। वाक्यभी अनेक पदार्थोंके संबंध विशेषका कहनेवाला है। अतः वहभी किसी संबंधादि विशेषोंसे रहित वस्तुको नहीं कहसक्ता। किन्तु सविशेष वस्तुकाही निरूपण कर

सत्ता है। इसलिये निर्विशेष वस्तुमें अथवा वैसी अनुभूतिमें[1] शब्द प्रमाण है यह नहीं कहसक्ते।

२९–प्रत्यक्षके भी दो भेद हैं। एक निर्विकल्पक और दूसरा सविकल्पक। जाति गुण आकार आदि अनेक विशेषोंका ग्रहण करनेवाला जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उसे सविकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं। और जाति गुण आदि विशेषोंसे रहित जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उसे निर्विकल्पक कहते हैं। अर्थात् अस्तित्व विशेष मात्रका ग्रहण करनेवालेको निर्विकल्पक कहते हैं। सविकल्पक प्रत्यक्ष तो जात्यादि विशेषोंका ग्रहण करनेवाला है। इसी लिये वह निर्विशेष वस्तु, वा ब्रह्ममें प्रमाण नहीं हो सक्ता / निर्विकल्पक प्रत्यक्षभी एकदम निर्विशेष विषयक नहीं है। किन्तु विशेषण विशेष्यभावसे रहित संमुग्धाकार (बेमालूम) वस्तुका ग्राहक है। अतएव अस्तित्वादि किसी विशेषकाही ग्राहक है, निर्विशेषका नहीं। और वह स्वयंभी विशेषयुक्त है, न कि अविशेष। यदि वह सर्वथा निर्विशेष होता तो उसके होनेमेंही सन्देह हो जाता। यह नियम है कि सर्व अनुभव किसी विशेषसे युक्तही होते हैं। इसलिये सविकल्पक और निर्विकल्पक प्रत्यक्ष दोनो सविशेष विषयक, अर्थात् किसी विशेषसहित पदार्थके ग्रहण करानेवालेही होते हैं। इस हेतुसे वह दोनो **निर्विशेष अनुभूति** (ब्रह्म) में प्रमाण नहीं हो सक्ते। यदि मतान्तरोक्त प्रमाण[2] संख्याको लेकर कुछ कहते हो तौ भी कहना पडैगा कि प्रमाण

---

१–अनुभूति संवित् यह सब ज्ञानके नाम हैं। २ अनुमान, उपमान, प्रत्यक्ष, शाब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्ध्यादि।

मात्र किंचिद्विशेषयुक्त प्रमेयकाही बोध करासक्ते हैं, न तु शून्यकल्प निर्विशेष वस्तुका। इसलिये 'निर्विशेष अनुभूति वा ब्रह्ममें कुछ प्रमाण है' यह सिद्ध नहीं हो सक्ता।

३०–यदि कहो कि **'अस्ति किंचित्'** (है कुछ) इस ज्ञानके सिवाय, अन्य जो कुछ जातिगुण आकार आदिसे किया इतरेतराभावरूप भेद है, वह प्रत्यक्षसे ग्रहण नहीं किया जाता। क्यों कि भूतलके सिवा अथवा आश्रयके सिवा परस्पराभावरूप भेदका ग्रहण नहीं होता। यहभी एक दुपहरके सूर्यके तेजको हथेलीकी आडसे छुपानेके जोडतोडका परिश्रम मात्र है। क्योंकि यदि जात्यादि परस्पराभाव रूप भेद प्रत्यक्षसे ग्रहण करनेमें न आता तो अश्व लेनेवाला उसके भ्रमसे हाथीको ले लेता। अथवा घटग्राही मनुष्य पटके दिखानेसे यह न कहता कि **'मुझे यह नहीं लेना है'** प्रत्युत वह अस्ति किंचित् की अटकलपर उसेही खरीद लेता। परन्तु आजतक ऐसा देखने सुननेमें नहीं आया। विशेष तो क्या कहैं, मात्र इतनाही कहना है कि इस तरह भेदको न माननेवाले और ज्ञानमात्रको 'अस्ति किंचित्' निर्विशेष विषय माननेवाले दंपतीको एकदफै खोनेके बाद युग सहस्रोंमेंभी अपना अपना सहचर नहीं मिलसक्ता। क्यों कि जब ज्ञानको सविशेष, और भेदका ग्रहण मानते हो तब तो ठीकठाक रहैगी। और जब ज्ञान निर्विशेष और भेदका ग्रहण नहीं मानते तौ बुरी छनेगी। हमारे जान तो ऐसे निर्विशेषप्रिय पत्नी और पति दोनो अपनी 'अस्ति किंचित् की लाठी' लिये भले सहस्रों युगतक अन्धेकी तरह इधर उधर ठुकराया करें किन्तु कभी परस्पर एक एकका पता नहीं

लगा सक्के । इसलिये ज्ञानमात्र निर्विशेष नहीं सविशेष होता है । और ब्रह्मके विषयमें तो बात ही और है वह आगे कहेंगे । जहां कहीं निर्विशेषका भान होता है वहांभी अतिसूक्ष्म अथवा अव्यक्त जातिगुणादि निमित्तकही वह भान होता है । किंवा ग्राहकशक्तिकी न्यूनतासेही ऐसा भान होता है यह आगे कहेंगे ।

३१–और पूर्वपक्षमें जो यह कहा कि 'घटोऽस्ति' इत्यादि अनुभवमें अनुभवके सिवा और घटादि सर्व पदार्थोंका बाध होनेसे व्यावर्तन होता है, यहभी अनालोचित साहस है । विरोध होनेसेही तो दोंमेंसे एकका बाध होता है, अविरोधमें नहीं । यहां (घटानुभव पटानुभवमें) भिन्न भिन्न अनुभवोंमें देश काल आदिका भेद होनेसे विरोधही नहीं है, बाधतो दूरापास्त है । यदि घटानुभव और पटानुभव एक कालमें होते तौ अवश्य विरोध होनेसे बाध हो सक्ता था, परन्तु सो संभवही नहीं है । अतएव अनुभवमात्रमें देशकालादिका भेद होनेसे विरोध नहीं, अविरोध होनेसे बाध नहीं, और बाध न होनेसे घटपटादिकी व्यावृत्तिभी नहीं हो सक्ती । और यदि बाध होभी तौ क्या यह कह सक्ते हैं कि वह पदार्थ असत्य हैं । वाहरे ! !

३२–और **'सर्व पदार्थोंका अनुभव करते समय' 'अस्ति और अनुभवका' 'लगाव रहताही है अतः सद्रूप अनुभवही परमार्थतत्त्व है'** यह कहना भी सिद्ध साधन मात्र है । क्योंकि 'सत्, चित् ( अनुभव ) यह दोनों ब्रह्मरूप हैं अतः इनकी सर्वत्र अनुवृत्ति स्वतःसिद्ध है । इसके लिये यह शतगामी ऊंट कैसे लंबे २ डग धरना केवल परिश्रम

मात्र है। इतना तो **'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** इत्यादि श्रुतिसेही सिद्ध था।

३३–और **'ज्ञान पदार्थ किसीका विषय नहीं होता अर्थात् वह ज्ञेय वा ज्ञाप्य नहीं है, वह स्वयंप्रकाश है अर्थात् ज्ञानका दूसरा ग्रहण करानेवाला नहीं'** यह कहनाभी भूलसे खाली नहीं है। क्यों कि परका अनुभव ( ज्ञान ) निज अनुभवका विषय होता है। और अतीतसमयके अनेक अनुभवभी वर्तमान समयमें ज्ञानके विषय होते हैं। **'जो किसीका विषय होता है वह जड है'** यह कहनाभी सपनेका वर्णाना है। यदि ऐसा नियम मानते हो तो परके अनुभव तथा अतीतसमयके निजके अनुभव, अनुभवही न रहेंगे, वहभी जड कहे जाँयगे। इसलिये ज्ञान किसीका विषय नहीं होता यह नहीं कहसक्ते। स्वयंप्रकाश रहतेभी ज्ञान दूसरेके अनुभवमें आता है, क्यों कि वह वस्तुही ऐसी है। जहां वस्तुस्वभावही ऐसा हो वहां तर्क काम नहीं देता।

३४–और **'जो अपनी सत्तासे प्रकाश करनेवाला हो वह अजड है, और अजड होनेसे अनुभूति ( ज्ञान ) ही आत्मा है'** यह कहनाभी भूलका भूसा है। क्यों कि दीपक अपनी सत्तासे प्रकाश करनेवाला है, अतः उसेभी अजड (चेतन) और आत्मा मानना पडैगा। वाहरे मायावादियो! तुह्मारे नियम अजव हैं!!! जिसतरह छेद्य, ( काटनेलायक वस्तु ) और छेत्ता ( काटनेवाला ) के अभावमें छेदन ( काटना ) की सिद्धि करना, **'स्वप्नमें लड्डू उडाना है'** इसी तरह अहंरूप ज्ञाता और

ज्ञेयपदार्थके अभावमें ज्ञान ( अनुभूति ) की सिद्धिभी विना गलेका गाना है। इसलिये आत्मा स्वयंप्रकाश रहतेभी अहं वेद्य है, अर्थात् आत्मा अहंपद प्रत्ययसे जाना जा सक्ता है। अथवा यों कहिये कि अहं आत्माका स्वरूप है, अनुभूति ( ज्ञान ) उसका धर्म है।

३५–यदि कहो कि **'अनुभूति और अहं एक हैं, भ्रमसे जुदे २ दीखते हैं'** तौभी ठीक नहीं क्यों कि यदि दोनों भ्रमसे जुदे दीखते और वास्तवमें एक होते तौ शुक्तिरजतकी जगह जैसे **'रजतमिदं' 'यह चाँदी'** ऐसा रजत और इदं दोनोंका ऐक्य प्रतीत होता है, इसीतरह **'अनुभूतिरहं' 'मैं ज्ञान हूं'** ऐसा ऐक्यका अनुभव होना चाहिये। परन्तु किसीभी अनुन्मत्तको ऐसी प्रतीति नहीं होती। प्रत्युत यह अनुभव होता है कि **'अनुभवाम्यहं' 'ममेदं ज्ञानं जातं' 'मैं अनुभव करताहूँ' 'मुझे यह ज्ञान हुआ'**। और जो यह कहा कि **'आत्मा विकाररहित है और ज्ञानक्रियाका कर्तारूप ज्ञातृत्व ( ज्ञातापन ) विकार है, अतः वह ज्ञातृत्वरूपविकार आत्मामें संभव नहीं, किन्तु वह ज्ञातृत्वधर्म, अहंकाररूप अंतःकरणका है, उपचारसे वा अज्ञानसे आत्मामें दीखता है'** सोभी साहसमात्र है। क्यों कि ज्ञातापन चेतनकाही असाधारण धर्म है। और अहंकार जड है उसमें वह चेतनधर्म होना असंभव है। यदि जबरदस्ती ज्ञातापनको जड अंतःकरणका धर्म मानोगे तौ फिर भीत्ति और पत्थर आदि जड पदार्थोंकोभी ज्ञाता मानना पडैगा। इसलिये अहं

ज्ञाता है और वही आत्मा है। हां यह सच है कि उस चेत-ननेभी अपनेमें देहधर्म समझ रखे हैं वह झूठे हैं।

३६–यदि कहो कि **'जैसे लोहपिण्डमें उष्णता (गरमी) नहीं है तथापि अग्निके साथ सम्बन्ध होनेसे गरमी मालुम होने लगती है, इसीतरह अंतःकरण-रूप अहंकारके जड होनेपरभी चिद्रूप आत्माके संबंधसे वह ज्ञाता हो सक्ता है'** तौभी ठीक नहीं। क्यों कि दृष्टान्तमें तो अग्निकी गरमी लोहपिण्डमें आती है अतएव वह गरम मालूम पडता है। परन्तु प्रकृतमें तो आप आत्मामें ही ज्ञातापन नहीं मानते तो फिर वह अहंकारमें कहांसे आवैगा। यदि कहो कि **'वस्तुतः अहंकार और आत्मा दोनोंमें ज्ञातापन नहीं है तथापि जिसतरह दर्पणमें मुख देखनेसे दर्पण उसीके मुखका उसको अनुभव कराता है, क्यों कि वह दर्पण उसका अभिव्यंजक है इसीतरह अहंकार आत्माका अभिव्यंजक है** ( प्रकाश करानेवाला ) **इस-लिये आत्माको निजरूपकाही अनुभव करता है'** तौभी कार्य नहीं चलता, क्यों कि आपके मतमें आत्मा ( अनुभव )-को स्वयंप्रकाश और अंतःकरणादि सर्व पदार्थोंका प्रकाशक माना है। और अब यदि 'उस स्वयंप्रकाश आत्मारूप अनुभवका प्रकाशक अचित् (जड) अहंकार है' ऐसा कहोगे तो जैसे 'मेरी मा वंध्या है' इस कहने पर लोग जैसे कहकहा लगाते हैं, इसीतरह आत्मविचारक पुरुषोंको करुणसंमिश्र हंसी आवेगी। इसलिये अहं पदार्थही ज्ञाता है और वही आत्मा हो सक्ता है।

३७–यदि **'मामप्यहं न ज्ञातवान्' 'मैं आज ऐसा सोया कि मुझे अपनीही खबर न रही'** इस पूर्ण सुषुप्तिके स्मरणको लेकर यह कहो कि **'ऐसी अवस्थामें ज्ञातापन और अहंप्रत्यय दोनो नहीं रहते** किन्तु **अज्ञान साक्षी ज्ञान तो वहांभी मौजूर है इसलिये ज्ञानही आत्मा है ज्ञाता नहीं'** यहभी युक्ति सह नहीं। क्यों कि सोकर उठने-वाला कहता है कि, **'आज मैं बडे सुखसे सोया'** तौ यहां **'अहं'** और **'ज्ञाताको'** ही तो सुखसे सोनेवाला और ज्ञाता कहा है। यदि उस समय **ज्ञाता** न होता तो सुखस्वापका ज्ञान ही क्यों रहता। और **'अहं मां न ज्ञातवान्'** यहांभी ज्ञाता की, सुप्तावस्था तथा त्रिकालमें अनुवृत्ति रहनेसे आपभी यह तो नहीं कहसक्ते कि, **'यह स्वरूपका निषेध है'**। किन्तु यह कह सक्ते हैं कि, **'ज्ञाता सुप्तावस्थामें अपने वर्ण जाति आदिको नहीं जानता था'**। इसलिये आत्मा ज्ञाता है और ज्ञान वा अनुभूति उसका धर्म है।

३८–**'अहं'** सोनेकी अवस्थावाले ज्ञाताका परामर्शक है और **'मां'** जागरित देहवर्णाश्रमादि विशिष्टका बोधक है। अत एव ज्ञाताका निषेध नहीं, किन्तु वर्णाश्रमादिवैशिष्ट्यका निषेध है। और अतएव पर होनेसे **'मां'** में कर्मसंज्ञा और द्वितीया होसकी। अन्यथा यदि ज्ञानके सिवा सबका निषेध मानोगे तो **'परसम-वेतक्रियाफलशालि न होनेसे'** कर्मसंज्ञाही दुष्कर है। इसीलये सुप्तावस्थामेंभी आत्मा ज्ञाता है ही। **'अहं जानामि' 'ज्ञानं मे जातं'** इस प्रतीतिसे सिद्ध ज्ञान तो उस ज्ञाताका धर्म

है। हां यह बात अवश्य है कि प्रभा और उसका आश्रय सूर्य किंवा दीप और प्रभा जिसतरह वास्तवमें एक है इसीतरह ज्ञाता और ज्ञानमें परस्पर ऐक्य हो।

३९—और जो यह कहना कि, **मोक्षदशामें 'अहं' पद और उसका अर्थ दोनों नहीं रहते। वहां अहंभाव रहनेसे मुक्तकोभी संसारी कहना पडैगा। अहंकारीको संसारी कहते हैं यह लोकप्रसिद्ध है'**। यहभी समुद्रमें धूलिका पुल बनाने जैसी बात है। क्यों कि मुक्तका **'अहं'** शब्द स्वरूपपरामर्शक है। और संसारीका **'अहं'** शब्द स्वरूपके ऐवजम देहका परामर्शक है। दोनोका अर्थ दूसरा होनेसे विरोध नहीं।

सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्मने अपनी इच्छासे अपने धर्मोंका परिणाम, और आपसमें एक दूसरे धर्मोंका तिरोधान कर, यह चराचर सृष्टि बनायी है। उसमें महान्, सूत्र, अहंकार आदि २८ तत्त्व, जिन्हें हम जड जानते हैं वे सदंशका परिणाम हैं। जीव, चिदंशका। और अन्तर्यामी आनंद अंशका अविकृत परिणाम है। रूपके परिवर्तनको, अर्थात्—दूसरी अवस्था ले लेनेको परिणाम कहते हैं। **जैसे सोनेका कुण्डल**। और स्वरूपपरिवर्तनको विकार कहते हैं, **जैसे दूधका दही**। यद्यपि तीनों ब्रह्मकाही अविकृत परिणाम हैं। तथापि सदंशमें **प्रकृतिका मिश्रण है**[1]। इसलिये प्रकृतिगत

---

१—जैसे साचेमें ढलकर सोनाही, भूषण, क्रीडनक (खिलौने) होजाता है। इसीतरह सदंशसे प्रकृतिको वशकर ब्रह्मभी जगत् होजाता है। तो सांचेकी जगह प्रकृतिका संयोग है।

अहंकार ( अहंभाव ) जुदा है। और स्वरूप परामर्शक आत्म-ज्ञापक यह 'अहं' जुदा है। **अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृति-रष्टधा'** इत्यादि श्लोकोंसे जिस अहंकारका निरूपण है वह हेय है। मुख्य **'अहं'** और **'अहंकार'** में व्यर्थका भेद है। अर्थात् स्वरूप न होनेपर भी जहां स्वरूप समझा जाय उसे, **'अहं'** कार कहना चाहिये अत एव वह अहंपदार्थ आत्मासे जुदा है। कहीं कहीं ऐसे अहंकारको अहंभी कहदेते हैं। और उसीकी शास्त्रमें निंदा है। परन्तु वास्तवमें तो **'अहं'** शब्द आत्मार्थकही है। **प्रत्युत 'अहं' पदका प्रयोग, ब्रह्म तथा मुक्तोंके लिये वेदादिशास्त्रोंमें शतशः आते हैं। हंताहमिमास्तिस्रो देवताः०' 'बहुस्यां प्रजायेय' 'ब्रह्माहमस्मि०' 'अहं मनुरभवं०' 'अहं सर्वस्य प्रभवः' 'तेषामहं समुद्धर्ता' 'वेदाहं समतीतानि' 'यस्मात्क्षरमतीतोऽहं०' 'विष्ट-भ्याहमिदं' 'तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्'** इत्यादि।

४०—और जो यह कहा कि **'अज्ञानरूप अनिर्वचनीय अविद्या वा मायाके संबंधसे ब्रह्मही अपनेमें जीव ईश बन्ध मोक्ष ज्ञाता ज्ञेय लोक वेद आदिकी कल्पना कर लेता है। 'तत्वमसि'** इत्यादि शास्त्रोंके श्रवणद्वारा जब उस दोषरूप मायाकी निवृत्ति होती है तो उसे अपने स्वरूपका भान होता है'। इत्यादि.

यह कहनाभी आकाशलताके फलोंका स्वाद लेना है। अस्तु. पहले हम यह पूछते हैं कि जिन शास्त्रोंके द्वारा प्रतिबन्ध वा दोषकी निवृत्ति होती है वह शास्त्र सच्चा है कि कल्पित ?। यदि

सत्य मानो तौ द्वैतापत्ति। और कल्पित कहते हो तौ ऐसे असत्यशास्त्रसे सत्यब्रह्मज्ञानावाप्ति वा प्रतिबन्धनिवृत्ति कैसे होगी। जैसे स्वप्नकी खीरसे तृप्ति नहीं होती इसीतरह अपरमार्थ शास्त्रसे स्वरूपस्मृति वा ब्रह्मज्ञान कैसे होगा।

४१–यदि कहो कि जैसे '**स्वप्नमें असत्य गज आदिके दर्शनसे सत्य शुभाशुभ फल मिलते हैं। किंवा बाजीगरके दिखलाये पदार्थोंसे सत्यहर्ष शोकादिक, किंवा असत्य रज्जुसर्पादिसे भयकम्पादि होते हैं। इसी तरह अपरमार्थ वेदादिशास्त्रोंसे सत्य ब्रह्मप्राप्ति हो सक्ती है**'। तौभी ठीक नहीं क्यों कि स्वप्नमें, नटलीलामें, किंवा रज्जुसर्पमें दीखते असत्यपदार्थोंसें शुभाशुभफल वा हर्षभयादि नहीं होते, किन्तु जागरितको सत्यपदार्थोंका जो ज्ञान था, सोनेके बाद उस ज्ञानने वा स्मरणने ही शुभाशुभ फल वा हर्षभयादि सत्यफल दिया न कि असत्यने सत्यफल।

४२–'**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' यहां जो लक्षणाद्वारा तीनों पदोंकी एकार्थपरता की, सो भी युक्ति और मर्यादासे शून्य है। क्यों कि जव एकही ( सत्यं असत्यं व्यावृत्तं ) पदसे ब्रह्मकी प्रतिपत्ति ( ज्ञान ) होगई तौ फिर और विशेषण व्यर्थ हैं। व्यावृत्तिमात्रही ब्रह्मस्वरूप होनेसे एक व्यावृत्तिद्वारा स्वरूपका लक्षण होगया।

४३–इसलिये '**सत्यं ज्ञानं०**' इत्यादि श्रुतियोंमेंभी सविशेष ब्रह्मका ही निरूपण है। किंच यहभी दोष आसक्ता है कि असत्याभावरूप होनेसे ब्रह्मभी अभावरूप कहा जायगा। और इस-

तरह आधार और आधेय दोनो ब्रह्मकोही मानना पडेगा। सो युक्त नहीं, क्योंकि एकही वस्तु आधार वा आधेय हो नहीं सक्ती। और शास्त्रज्ञानद्वारा नष्ट होनेवाला अज्ञान (माया–अविद्या) ही यदि स्वयंप्रकाश ज्ञानस्वरूप ब्रह्मके स्वरूपको भुला देता है, तौ फिर ऐसे जबरदस्त अज्ञानका दूर करनेवाला और ब्रह्मजीको अपने स्वरूपका स्मरण करानेवाला कहां मिलैगा। यदि कहो कि '**भ्रमसमयमें रज्जु किंवा शुक्ति दोनों अपना स्वरूपज्ञान करानेमें असमर्थ हैं। अतः उनके स्वरूप-ज्ञान करानेके लिये जैसे अन्य ज्ञानकी अपेक्षा होती है। इसी तरह ज्ञानरूप ब्रह्मभी अपने स्वरूपज्ञान करानेमें असमर्थ है। इसीलिये उसे शास्त्रज्ञानकी अपेक्षा होती है**'। '**ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है**' इत्यादि शास्त्रीय ज्ञानद्वारा ब्रह्मको अपने स्वरूपका भान होता है। और वह अविद्या निवृत्त होती है।

४४–वाहरे मायावादियो तुमारा मत खूब है। दुनिया जरा बेखबरहो तो तुम साफ पगडी गायब करलेते हो। सुनिये!!! रज्जु वा शुक्ति दोनों अपने स्वरूपज्ञान करने वा करानेमें अस-मर्थ हैं, क्यों कि वो जड हैं, अतः उनके ज्ञान करानेको दूसरा ज्ञान चाहिये यह ठीक है। पर जो ब्रह्म स्वयंप्रकाश है, ज्ञानरूप है, उसे भी अपने आपको समझानेके लिये अन्यज्ञानकी अपेक्षा है, यह तो चक्करदार चोरी है। सोता हो उसे जगानेवाला चाहिये लेकिन् जागता हो उसका क्या जगाना।

---

१–'**सत्यं ज्ञानमनन्तं** ब्रह्म'–श्रुतिः।

४५–यहां एक यहभी प्रश्न होता है कि 'जो ज्ञान, ब्रह्मको स्वरूपज्ञान कराता है वह ज्ञान है कि नहीं ?' । यदि नहीं कहौ तो वह ब्रह्मको स्वरूपज्ञान नहीं करा सक्ता । और **'वहभी ज्ञान है'** यह कहो तो फिर ब्रह्मभी ज्ञानस्वरूप है वह अपने स्वरूपको आप समझलेगा, दूसरेको क्या पडी । यदि जबरदस्ती ज्ञानस्वरूप ब्रह्मकोभी आत्मयाथात्म्य समझानेके लिये **'ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है'** इस 'शास्त्रज्ञान'की अपेक्षा मानोगे तो फिर इस ज्ञानके लियेभी ज्ञानान्तरकी अपेक्षा होनी चाहिये । इस तरह अनवस्था होगी । एक यहभी प्रश्न होता है कि, 'ब्रह्मको जो अपने स्वरूपका अज्ञान हो रहा है, उसका प्रकाशक कोन है ? यदि अज्ञानका प्रकाशक ज्ञानकोही मानो, तो स्वाश्रित नाशरूप दोष आवेगा । क्यों कि ब्रह्मरूप ज्ञानही उस अज्ञानका आश्रय है, और वही ज्ञान, मुक्तदशामें उसका नाशक होगा । यदि कहो कि स्वरूपज्ञान करानेवाला ज्ञान दूसरा है । तौभी ठीक नहिं, क्यों कि स्वयंप्रकाश ब्रह्मको अपना स्वरूप समजानेके लीये दूसरा ज्ञान चाहिये, यह बडे आश्चर्यकी बात है । वास्तवमें तो जो ब्रह्म, अपनी नाकपर बैठी मक्खीकोभी न उडा सकै ऐसे अकर्मण्य निर्विशेष अजागलस्तनवत् निरर्थक ब्रह्मके माननेसेभी क्या फायदा । इससे तो नास्तिक अच्छा जो साफ कह देता है कि ईश्वर हैही नहीं ।

४६–**'अनादि अविद्यासे ब्रह्म तिरोहितस्वरूप हो जाता है'** यह कहनाभी अविचारमधुर है । क्यों कि ऐसे समय दो प्रश्न होते हैं । अविद्यासे तिरोहित होनेवाले उस ब्रह्मका स्व-

रूप, थोडासा भी प्रकाशित रहता है, या नहीं। **'कुछभी नहीं रहना'** ऐसा कहो तो ब्रह्मको तुच्छतापत्ति होगी। अर्थात् एक तरहसे वह ब्रह्मस्वरूपका नाशही समझो। यदि कहो कि कुछ प्रकाशमान रहता है तो यह सन्देह होता है कि ज्ञानैकरस ब्रह्मका कौनसा अंश तिरोहित रहता है। और कौनसा प्रकाशित रहता है।

और निरवयव ब्रह्ममें विभाग न होनेसे प्रकाश और अप्रकाश दोनो एक साथ रहही नहीं सक्ते। यदि कहो कि **'ज्ञानस्वरूप ब्रह्मके स्वरूपका स्पष्ट प्रकाश न होना इसेही हम स्वरूपतिरोधान कहते हैं'** तौभी ठीक नहीं। क्यों कि जो पदार्थ अन्यका विषय, सावयव, सविशेष, और प्रत्यक्ष होता है उसीका स्फुटप्रकाश, विशदप्रकाश, किंचित्प्रकाश, विशेषप्रकाश, इत्यादि हो सकता है। किन्तु आपका ब्रह्म तो निरंश निर्विशेष अप्रत्यक्ष और अविषय है। इसलिये उसका विशदप्रकाश वा किंचित्प्रकाश कहना भ्रममें डालना है।

४७–और **अविद्या, सांची और झूंठी दोनो न होनेसे अनिर्वचनीय है अपूर्व है'** यह कहनाभी विचाररहित है। 'कोईभी प्रतीति एकही देश और कालमें सच वा झूंठसे जुदी नहीं होसक्ती' यह हम पूर्वभागमें युक्तियोंसे सिद्ध करचुके हैं। यदि स्वप्नप्रतीतिको लेकर कहो कि **'जैसे स्वप्नके पदार्थ जागनेपर न दीखनेसे सत्य नहीं और स्वप्नमें उनकी प्रतीति हो रही है इसलिये झूंठेभी नहीं हैं'**। **इसीतरह स्वप्नके पदार्थकी तरह अविद्या ( अज्ञान ) भी** ( अह-

मज्ञः में अज्ञानी हूं ) इस प्रतीतिसे सिद्ध है । **अतः झूंठी नहीं** । और ज्ञान होनेके बाद दीखती नहीं अतः सत्यभी नहीं हो सक्ती' । यहभी युक्ति समझसे खाली है । सुनिये ! ! ! स्वप्नके पदार्थ एकही कालमें सत् और असत्से जुदे नहीं मालुम पडते । किन्तु देशकालके भेदसे जुदे हैं । जिस समय वे प्रतीत हैं उस समय सत् ही हैं, और जब उनका बाध होता है तब असत्ही हैं । दोनोंसे जुदे कहां रहे । वास्तवमें तो रज्जुसर्प, शुक्तिरजत, स्वाप्निक पदार्थ आदि सब चाहे प्रतीत हों चाहे न हों, किन्तु लोकमें उनकी असत्यही प्रतीति है । मूर्खसे मूर्खभी मनुष्य उन्हे अनिर्वचनीय वा सत्य नहीं जानता । अरे ! युक्तिप्रधानवादियो ! जरा तो अपने लौकायतिकपनको सम्हालो, युक्ति और लोकसे विरुद्ध ! ! ! लोकमें कहीं भी सत् और असत्से जुदा पदार्थ प्रसिद्ध है ? ।

४८—वास्तवमें तो शास्त्रमें मायाके द्वारा भगवान्कोही उस स्वाप्निक पदार्थका कर्ता कहा है । अतः स्वप्नके पदार्थ मायिक होनेसे स्वप्नका ज्ञान **'अन्यख्याति' ही** है, अनिर्वचनीय ख्याति नहीं। **'न तत्र वेशन्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्ति' 'अथ वेशंन्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यः सृजते' 'सहिकर्ता' 'न तं विदाऽथ इमा जनानाऽन्यद्युष्माकमन्तरा भवाति'** इत्यादि श्रुतिसमूहोंसे यह ज्ञात होता है कि सत्यसङ्कल्प सर्वाश्चर्यमय, सर्व विचित्रशक्ति, निखिलगुणार्णव, वह परमपुरुष भगवान् अपनी क्रीडाके लिये स्वेच्छासे समय समय पर अनेक शक्तियोंसे अनेक प्रकारकी अनेक सृष्टिरचना करता है । वह एक है पर अचिन्त्यशक्ति होनेसे **कदाचित् 'विस्फुलिंगन्यायसे,**

**कभी पुरुष ( नारायण ) द्वारा, आकाशवायु इत्यादि क्रमसृष्टि। कभी साक्षात्स्वरूपसे।** और कभी मायाद्वारा इन्द्रजालकी तरह काल्पनिक जगत्का निर्माण करता है। यह मायिकसृष्टि अनेक प्रकारकी है। श्रुतिस्मृतियोंमें इस सृष्टिको आभास, प्रतिबिंब, अन्धकार, अन्तरा, प्रतिध्वनि, आवरण, मायिक, माया, गन्धर्वनगर आदि शब्दोंसे कहा है। नृसिंहोत्तरतापिनीमें, '**ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत**' और '**न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो**' इत्यादि स्मृतिमें इस अन्तरा सृष्टिका निरूपण है। जो मायिक पदार्थ, घटादिका ग्रहण करते समय बीचमें आता है। और जिसके आड रहनेसे भगवद्रूप पदार्थभी झूंठ जचने लगते हैं उसे अन्तरासृष्टि कहते हैं। सत्य पदार्थ जिसतरह प्रपंचमें गिने जाते हैं। इसीतरह स्वाप्निक आदि मायिक सृष्टि भी प्रपञ्चान्तर्गत है। इसीलिये कहीं पुराणोंमें वैराग्य होनेके लिये स्वप्नादिसृष्टिको लेकर कार्यसृष्टिकोभी मिथ्या कह दिया है। परन्तु वास्तवमें मायिक सृष्टि असत्य है। और कार्यसृष्टि ब्रह्मात्मक है। दोनो प्रपञ्च हैं, दोनीही सृष्टि हैं। इसलिये विद्वान् भी भ्रममें पडजाते हैं। वास्तवमें छ प्रकारसे भगवान्न सृष्टिरचना की है। अतएव कार्यसृष्टि और मायिकसृष्टि अलग अलग हैं। और इसीसे स्वप्नसृष्टिका दृष्टान्त देकर भगवत्कार्यसृष्टिकोभी असत्य वा अनिर्वचनीय कह देना यह मायावा-

---

१–'तस्माद्वा एतस्मात् आत्मन आकाशः सम्भूतः' इत्यादि श्रुतिः।

२–स आत्मान ँ स्वयमकुरुत' श्रुतिः। द्वेधाऽपातयत् रेयिंच प्राणंच' श्रुतिः।

दियोंका क्रम है। इन सब सृष्टियोंका वर्णन आचार्योंने इसतरह किया है।

**'एवं कदाचिद्भगवान्साक्षात्सर्वं करोत्यजः।**
**कदाचित्पुरुषद्वारा कदाचित्पुनरन्यथा॥**
**कदाचित्सर्वमात्मैव भवतीह जनार्दनः।**
**महेन्द्रजालवत्सर्वं कदाचिन्मायया ऽसृजत्॥**
**'अचिन्त्यानन्तशक्तेस्तद्यदेतदुपपद्यते'**

तत्वदीप निबंध.

यहां इतना कह देते हैं कि मायिक सृष्टिके पदार्थ यद्यपि असत्य हैं, तथापि उनकी कारण वह भगवान्‌की शक्ति माया असत्य नहीं। वह ब्रह्मात्मकही है वाजीगरकी मंत्रशक्ति वा युक्तिशक्तिके किये पदार्थ यद्यपि असत्य हैं, तथापि उसकी वह युक्तिशक्ति असत्य नहीं। अन्यथा सब ऐसा कर सकें।[1]

४९—**और जो लोग (अहमज्ञः) इस अनुभवसे जीवेशादि भावकी कर्त्री माया वा अविद्याकी सिद्धि करना चाहते हैं, वह सर्वथा परिहासके पात्र हैं।** क्यों कि यह अनुभव जीवको है। और कारण, सबके आदिमें होना चाहिये। अन्योन्याश्रयभी हो सक्ता है। क्यों कि मायाकी सिद्धि होले तब जीवकी सिद्धि हो, और जीव सिद्ध होले तब उसके इस अनुभवसे मायाकी सिद्धि हो। छ पदार्थ अनादि

---

१ इसलिये जो मायाको वा छ पदार्थोंको, वा उपाधिको '**कर्त्री**' मानकरभी उसे असत्य मानते हैं यह युक्तिसे खाली है।

हैं इस सिद्धान्तका तो हम पूर्वभागमें द्वैतापत्ति देकर खण्डन कर चुके हैं।

हम पूछते हैं कि आपके ब्रह्मने ऐसा कौनसा पाप किया है जो उसे मायाने धर दबाया। वा उसे अकस्मात् स्वरूपविस्मृति हो गयी?। यदि बीजवृक्ष न्याय देकर जगत्को अनादि मानकर यह कहो कि ब्रह्मका भी पूर्वजन्मका कोई कर्म है जिससे उसे यह दोष लगा है। तौभी युक्त नहीं। क्यों कि ऐसी अवस्थामें अप्रामाणिकी अनवस्था और अंधपरंपरा आ गिरैगी। और **'नासदासीन्नोसदासीत्' 'नान्यत्किंचन मिषत्' 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' 'अहं सर्वस्य प्रभवः'** इत्यादि सहस्रशः श्रुतियोंका विरोध होगा। क्यों कि यह सब ब्रह्मके पूर्वमें जगत्संभवका किंवा उसकी सत्ताका निषेध करते हैं।

५०—यदि कहो कि **'दशमस्त्वम्' 'दसवां तू है'** इस वाक्यके ज्ञानसे जैसे अपने आपका साक्षात्कार हो जाता है। इसीतरह **'तत्वमसि'** इत्यादि वाक्यार्थोंके ज्ञानसे ब्रह्मरूप आत्माका साक्षात्कार होगा, इसमें दोष क्या है'। ऐसा कहना बडी भूल है। और प्रतारणाभी है। क्यों कि दशमत्व धर्म देहका है। देह बाह्य है। और दशम संख्या, नो संख्याओंकी

---

१—सर्वध्यासनिवृत्तौ हि सर्वथा न भवेद्व्यथा।
सा च विद्योदये सा च न शब्दात् सुविचारितात्॥
मर्यादाभङ्ग एव स्यात् प्रमाणानां तथा सति।
गजानुमानं नैव स्यात् सांकर्यं वा तथा भवेत्॥
शब्दस्य साहचर्येण चक्षुषैव भवेन्मतिः।
स्मारकत्वमतो वाक्ये संख्याज्ञानं पुरा यतः॥ इत्यादिः।
**तत्वदीपे सर्वनिर्णयः।**

अपेक्षा रखती है। ऐसी जगह शब्दसे अपना साक्षात्कार हो सक्ता है। परन्तु आत्मा और ब्रह्म दोनों आन्तर हैं। इसलिये यह दृष्टान्त वहां बिलकुल संगत नहीं। दृष्टांतमें देहकाही प्रथम अनुभव है, और स्मरणभी देहकाही हुआ। आत्माका तो पहले कभी अनुभवही नहीं है, तो स्मरणभी कैसे बन सक्ता है। शब्दकी परोक्षज्ञान करानेकीही मर्यादा है। अब यदि वाक्यार्थज्ञानसे साक्षात्कार मानोगे तो शब्दकी मर्यादा तूट जायगी। और 'घट' उच्चारण करतेही 'घट' व्यक्तिका साक्षात्कार हो जाना चाहिये। और शब्दके परोक्षज्ञानकी मर्यादाके यथास्थित रहते चीत्कारसे गजका अनुमान होता था। और अब तो उसका साक्षात्कार होना चाहिये। जिसे पहलें आखों देखा हो उसीका शब्दके द्वारा किसी तरहकाभी ज्ञान हो सक्ता है। आत्माको ब्रह्मरूपसे जाननेमें (तत्वमसि) यहां (तत्) ब्रह्मज्ञानकी पूर्वमें अपेक्षा रहती है। ब्रह्मज्ञान होले तो फिर उस रूपसे आत्माको जाना जाय। ब्रह्म पूर्वमें आखों देखा नहीं इसलिये उसका ज्ञान शब्दके द्वारा हो नहीं सक्ता। तो फिर उस रूपसे आत्माका ज्ञान तो दूर रहा। इसलिये वाक्यार्थज्ञानमात्रसे प्रतिबन्धनिवृत्ति, वा आत्मसाक्षात्कार होना किसी युक्तिसे सिद्ध नहीं होता।

५१—यहां एक यह प्रश्न होता है कि 'युक्तिका इसतरह बिलकुल खंडन करनेसे तो मीमांसाशास्त्रकाही खंडन हो जायगा'। इसका उत्तर यह है कि मीमांसा ( विचारशास्त्र ) केवल श्रवण करते समय हमें जो असंभावना वा विरुद्ध कल्पनाएं उठतीं हैं उन्हे निवृत्त करती है। किन्तु ब्रह्मके बतानेमें उसका कुछ काम नहीं। **ब्रह्म तो जैसा वेद कहदे वैसाही मानना उचित है।**

वेदने कहा कि 'परमात्मा करचरणरहित है किन्तु चलता है और ग्रहणभी करता है'। तो अब मीमांसाका यह काम है कि दोनो बात रह जांय, और लोग ब्रह्मको समझभी लें, ऐसी युक्ति निकाले। ब्रह्मके हमारे समान लौकिक हाथ पैर नहीं हैं, किन्तु अलौकिक अप्राकृत करचरण हैं। किंवा वह परमात्मा विरुद्ध धर्मोंका आश्रय है, इसलिये करचरण न रहतेभी चल फिर सक्ता है, यह विचार वा युक्ति यहां वेदानुकूल होगी। और इसीसे लोगोंकी समझको ठीक करना ठीक है। क्यों कि इसमें वेदकी वात रहती है। किन्तु 'ब्रह्मके हाथ पैर कल्पनामात्र हैं, और उसका चलना फिरनाभी झूंठा है' यह युक्ति तो वेदकी बातकोही उडा देती है। इसलिये ऐसी युक्ति तो श्रवणके उपयोगीभी नहीं है।

५२–और ज्ञातापनको विकार कहना सो भी ठीक नहीं। क्यों कि ज्ञान जिसमें रहता हो उसे ज्ञाता कहते हैं। ज्ञानको क्रिया माननाभी भूल है। लोकमेंभी जिसे ज्ञान हो उसे ज्ञाता समझा जाता है। वह ज्ञान आत्मा और ब्रह्ममें स्वभावसे है। इसलिये उसे विकार कहना सरासर भूल है। 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' श्रुतिः।

५३–यदि कहो कि 'मकानके छिद्रोंद्वारा जो दण्डाकार सूर्यकी किरणें आतीं हैं, उनके आडे हाथ रखनेसे वह स्पष्ट मालुम पडने लगतीं हैं। यहां यद्यपि

**हस्त, सूर्यकिरणोंसेही दीखता है तथापि यह हस्तही जैसे सूर्यकिरणोंका अभिव्यञ्जक भी है । इसीतरह यद्यपि अहंकार अनुभूतिसेही प्रकाशित है तथापि वह अनुभूतिका अभिव्यञ्जक भी होसक्ता है'** तौभी ठीक नही क्यों कि सूर्यकिरणें जब हस्तद्वारा निरुद्धगति होती हैं तो एक जगह इकट्ठी होनेसे स्फुट दीखने लगती हैं । किरणोंका वाहुल्यही स्फुट दीखनेका कारण है, न कि हस्त । इसी लिये अनुभूति स्वयंप्रकाश होनेसे वह किसीसे प्रकाशित की जा नहीं सक्ती । यदि जवरदस्ती ऐसा मानो तो अन्याधीन प्रकाश होनेसे आपके कथनानुसार वह जड कही जायगी ।

५४–**'ब्रह्म[1] ज्ञानस्वरूप है'** इत्यादि **शास्त्रसे हुआ ज्ञानही ब्रह्मका साक्षात्कार कराता है'** यह कहनाभी समुद्रको एक छलांगमें लांघने जैसा साहस है । प्रथमतो यहां यही प्रश्न होता है कि जो भ्रमनिवर्तक ज्ञान है, किंवा साक्षात्कार करानेवाला ज्ञान है वह सत्य है वा मिथ्या ? । सत्य तो कह नहीं सक्ते क्यों कि फिर केवलाद्वैत मतही उड जायगा । यदि मिथ्या कहो तो इसका निवर्तक कौन है । **'क्षणिक होनेसे यह भ्रमनिवर्तक ज्ञान, स्वयं नष्ट होजाता है,'** ऐसा कहो तौभी ठीक नहीं क्यों कि आपके यहां तो निवर्तक ज्ञानका स्वरूप, उसकी उत्पत्ति, और उसका नाश, यह सब कल्पना हैं । तो अब हम पूछते हैं कि उस नाशरूप कल्पनाका नाश कोन है ? । **'उसका नाश ब्रह्मस्वरूप है,'** यह कहो तो फिर बुरी छनैगी । ब्रह्मस्वरूप है सत्य और नित्य, तो अब

१–'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' श्रुतिः ।

नाशके नित्य विद्यमान रहते निवर्तक ज्ञान उत्पन्नही कैसे हो सक्ता है। और यह भी कहिये कि निवर्तक ज्ञानका ज्ञाता कौन है। अध्यास तो ज्ञाता हो नहीं सक्ता। क्यों कि वह तो मिथ्या होनेसे निषेध्य वा निवर्त्य कोटिमें आचुका है। यदि ब्रह्मस्वरूपकोही उसका ज्ञाता कहो तो भी दो संदेह रहजाते हैं। ब्रह्मका यह ज्ञातृत्व अध्यस्त, है कि स्वरूप?। अध्यस्त तो कह नहीं सक्ते। क्यों कि इस ज्ञातृत्वरूप अध्यासके लिये फिर किसी निवर्तक ज्ञानरूप दिया सलाईकी जरूरत पडैगी। और जब निवर्तक ज्ञानजी परलोक पधारेंगे उससमय उनके ज्ञातृत्वकी फिर अपेक्षा होगी। इसतरह यह कभी अलग न होनेवाली अनवस्थारूप ऊंटोकी कतार पीछे लगी फिरैगी। यदि कहो कि '**ज्ञातृत्व, ब्रह्मका स्वरूप ही है**'। तो भले आदमी इतना झगडा क्यों किया। आपभी हैरान हुए और हमें भी हैरान किया। पहलेही उगलते कि '**ब्रह्म, ज्ञाता भी है**'। नमस्कार!!!

५५—और जो यह कहा कि '**वेदान्तवाक्योंके ज्ञानमात्रसे भ्रमनिवृत्ति वा बन्धनिवृत्ति होती है**' यहभी भूल है। यद्यपि जीवको '**मैं बद्ध हूं**' यह ज्ञान, मिथ्या है। क्यों कि वह भगवदंश है, चेतन है। अतः उसे बंध स्वतः नहीं है। तथापि वह बन्ध अपरोक्ष है। इसलिये परोक्षरूप शब्दार्थज्ञानके द्वारा दूर होनेवाला नहीं। शब्दकेद्वारा परोक्षही ज्ञान होता है। रज्जुमें सर्पका ज्ञान अपरोक्ष होरहा है। उससमय किसीने आकर कहा कि '**यह सर्प नहीं रज्जु है**' तौ यहां शब्दके द्वारा अपरोक्षज्ञान न हुआ किन्तु निःसर्प रज्जुके दर्शनसे हुआ। इसलिये उसका वह सर्पभय इस शब्दज्ञानसे दूर नहीं होसक्ता। हां इतना अवश्य होता है कि

इतना सुनकर वह मनुष्य, 'इसने कहा सो ठीक है कि नहीं' यह जाननेके लिये उस रज्जुका अपरोक्षज्ञान करनेके उपायमें प्रवृत्त होता है। तो यह सिद्ध हुआ कि शब्दार्थज्ञान वा '**तत्त्वमसि**' इत्यादि वाक्यार्थज्ञान, सुननेवाले वाक्यार्थ ज्ञानीको ब्रह्मसाक्षात्कार करानेवाले साधनोंमें प्रवृत्त कराता है, न कि स्वयं आत्मसाक्षात्कार करादेता है। '**दशमस्त्वमसि**' इसकी भूल तो हम पहले भागमें दिखा चुके हैं। शब्दसे प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता यह सबको मालुम है। क्यों कि शब्द इन्द्रिय नहीं और इद्रियोंसे हुआ ज्ञानही प्रत्यक्ष होता है। शास्त्रका श्रवण और उसका ज्ञान तो मनन निदिध्यासनादि ( साधनभक्ति ) में मनुष्यको प्रवृत्ति कराता है।

५६–तत्व तो यह है कि दुःखादि कारण अध्यासका न रहना ही मोक्ष है। किन्तु आनन्दप्राप्तिका नाम ब्रह्मप्राप्ति, ब्रह्मसाक्षात्कार वा निरतिशयानन्दप्राप्ति है। इसीसे श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणने कहा है कि '**दुःखाभावः सुखं चेति पुरुषार्थद्वयं मतम्**'। '**यतो वाचो निवर्तन्ते**' इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार परब्रह्म, निरतिशयानन्दरूप है। और ऐसा जीव है नहीं यह प्रत्यक्ष है। इसलिये '**ब्रह्मविदाप्नोति परं**' इस श्रुतिके अनुसार निरतिशयानन्दकी प्राप्ति तो ब्रह्मसात्क्षात्कारसेही होती है, शुद्ध जीवसाक्षात्कारसे नहीं। और इसीलिये आचार्योंने मोक्षको स्वाश्रय नहीं, किन्तु पराश्रय माना है। 'सम्राट् कैसे हैं, उनसे मिलना कौनसे साधनोंसे होसक्ता है' यह जानना और उन साधनोंका करना यह मिलनेजानेवालेके शक्य है, किन्तु उससे मिलना न मिलना, यह तो सम्राट्के अनुग्रहपर निर्भर है। वह

चाहें तो मिलसक्ते हैं अन्यथा नहीं। क्यों कि वह स्वतन्त्र हैं। परतन्त्र नहीं। ठीक इसीतरह परब्रह्मभी परात्पर है। वेदादि-शास्त्र, उससे मिलनेके साधन, उसका स्वरूप, जीवका स्वरूप, अध्यासका स्वरूप, उसकी निवृत्तिका उपाय, बताकर अलग हो जाते हैं। किन्तु **ब्रह्मसाक्षात्कार वा भगवत्प्राप्ति तो उसके[१] अनुग्रह बिना नहीं होसक्ती**। अनुग्रह होनेके साधन निदिध्यासन ( भक्ति ) आदि हैं। यद्यपि अनुग्रह होना भगवत्परतन्त्र है। न कि साधनपरतन्त्र। साधनाचरण करना तो जीवका निर्हेतुक धर्म है। तथापि अनुग्रह, तदनन्तरभावित्वेन कभी २ देखा गया है इसलिये लोग उसे साधनसाध्य कहते हैं। अस्तु, इस विषयको हम तृतीयभागमें स्पष्टरूपसे समझावेंगे यहां प्रकृत बात परही रहना ठीक है। हां तो यह सिद्ध हुआ कि वाक्यार्थ ज्ञानमात्रसे न तो भ्रमनिवृत्ति हो सक्ती है, और न ब्रह्मसाक्षात्कार। शास्त्रज्ञानसे तो साक्षात्कारके साधनोंमें प्रवृत्ति होती है। जबरदस्ती करनेसे तो मनन निदिध्यासनही व्यर्थ हो जांयगे। क्यों कि श्रवण वा वेदवाक्यके अर्थ ज्ञानसेही कार्य हो गया तो फिर मनन निदिध्यासन ( मीमांसा– और मनोनिवेश ) व्यर्थ हैं।

५७–यदि कहो कि '**मनन और भक्ति दोनो वाक्यार्थज्ञानकेही अंग हैं क्यों कि भक्तिके बिना वेदार्थज्ञान हो नहीं सक्ता। श्रवणानन्तर, मनन और निदिध्या-**

---

१–विष्णोः कृपाविशिष्टानां तत्फलं नान्यथा भवेत्। इत्यादि.
निबंधः।

**सन ( भक्ति ) से वेदार्थका ज्ञान होता है । अर्थात् 'यह सब प्रपञ्च मिथ्या है ऐसा वाक्यार्थज्ञान होता है' । ऐसा ज्ञान होना ही प्रतिबन्धनिवृत्ति है । बन्ध-निवृत्ति होनेसे स्वयं ब्रह्मसाक्षात्कार होता है । इसलिये वाक्यार्थज्ञानकेही शेष ( अङ्ग ) मनन और निदिध्यासन हैं । और ब्रह्मसाक्षात्कार तो वाक्यार्थ-ज्ञानसेही होता है ।**

यह बातभी ठीक नहीं । क्यों कि निदिध्यासनको वाक्यार्थज्ञानका उपाय माननेसे अन्योन्याश्रय होगा । किसी निर्दोष और कल्याणगुणवाले साकार आश्रयमें ( अर्थात् भगवानमें ) मनको लीनकर देनेको निदिध्यासन कहते हैं । सर्व वेदवाक्योंका अर्थ है ब्रह्म । मनोनिवेश, ब्रह्मरूप आश्रयकी अपेक्षा रखता है। और आपके कहनेके अनुसार वाक्यार्थज्ञान, निदिध्यासन ( मनो-निवेश ) की अपेक्षा रखता है। वाक्यार्थज्ञान हो जाय तो उसके विषयरूप ब्रह्मका निदिध्यासन होसके । और निदिध्यासन होले तो वाक्यार्थज्ञान हो यह कैसा चक्कर!!!

५८—यदि कहो कि **हमारे यहां वेदवाक्योंका अर्थ शुद्धब्रह्म है । और ध्यान वा भक्तिका विषय है** शबल-ब्रह्म किंवा **मायिकब्रह्म, इसलिये अन्योन्याश्रय नहीं ।** तो फिर निदिध्यासन, वाक्यार्थज्ञानका उपाय ( अङ्ग ) नहीं होसक्ता । और वह व्यर्थ है । क्यों कि अन्यका निदिध्यासन, अन्यका ज्ञान क्यों कराने लगा । जाने हुए विषयमें निरंतर मनोनिवेश करना इसे ही तो निदिध्यासन कहते हैं । वह जरूर वाक्यार्थ-

ज्ञानके बादही होसक्ता है । इसलिये ध्यान वा भक्ति, वाक्यार्थ-ज्ञानका कारण वा अंग है यह नहीं कहसक्ते । असलतो बात यह है कि भक्ति वा ध्यान दोनो, ध्याता, ध्येय, भक्त आकार आदि अनेक प्रपञ्चकी अपेक्षा रखते हैं और आपके यहां तो निष्प्रपंच ब्रह्मात्मक वाक्यार्थज्ञान करना है, इसलिये आपके वाक्यार्थज्ञानमें निदिध्यासनादिका कुछ काम नहीं । और अतएव **'मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः'** इत्यादि विधि व्यर्थही हैं ।

तौ अब यह सिद्ध हुआ कि **शुद्धपरब्रह्म, निराकार निर्धर्मक अकर्ता अभोक्ता है । और सोपाधिक शबलब्रह्म, साकार सधर्मक कर्ता भोक्ता इत्यादि है । और निर्विशेष अनुभूतिही ब्रह्म है'** यह **पक्ष युक्तियोंसेभी सिद्ध होना मुश्किल है । शास्त्रमें तो इसका गंधभी नहीं मिलता ।**

शास्त्रमें कहींभी—"ब्रह्म, निर्धर्मक और केवल एक
जीवही ब्रह्म है" यह नहीं मिलता ।

५९—**'तत्वमसि श्वेतकेतो'** यह वाक्य 'जीवही ब्रह्म है' इस बातका प्रमाण नहीं है, इसको हम पूर्वभागमें अच्छी तरह सिद्ध कर चुके हैं । **'असि'** के सामर्थ्यसे त्वंपदकी अनुवृत्ति स्वयं हो जाती है । किंवा **'असि'** अव्यय त्वंवाचक माना है । इसतरह **'तत्त्वमसि'** का अर्थ यह हुआ कि **'हे श्वेतकेतो जिस तरह और सब पदार्थ ब्रह्मात्मक हैं इस तरह तुमभी ब्रह्म प्रकार हो । ब्रह्मात्मक हो । जीव, ब्रह्मांश होनेसे वा ब्रह्मात्मक होनेसे ब्रह्म है, यह शास्त्रमें**

मिलैगा। परंतु **ब्रह्मही जीव[1] है, और जीवही ब्रह्म है। जीवसे अलग कोई ब्रह्म वास्तवमें हैही नहीं। यह बात शास्त्रमें मिलती नहीं।** युक्तियां तो ब्रह्मके विषयमें काम आतीं नहीं यह सिद्ध है।

६०–'**अस्थूलमनणु०' 'ब्रह्माऽपूर्वमनपरं०' 'अन्यदेव विदितात्०' 'यस्यामतं मतं तस्य०' 'न हि विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयात्०' 'नेदं यदिदमुपासते०' इत्यादि श्रुतियोंसे यदि ब्रह्मको निर्धर्मक वा अभजनीय मानते हो तो भारी भूल है।** ये श्रुतियां तो ब्रह्ममें प्राकृत धर्मोंका निषेध कर रहीं हैं और आरोप्यमाणमें भजनका निषेध कर रहीं हैं[2]।

'**पुरुषो वा गौतमाग्निः०'** यहां पुरुष और स्त्रीमें अग्निपनका आरोप है। '**मनो ब्रह्मेत्युपासीत'** यहां मनको आरोपित ब्रह्म कहा है। इसलिये आरोपित ब्रह्मत्व जहां हो वहांपरही भजनका निषेध है, न कि मुख्य ब्रह्मके भजनका। यह बात पुनः जो '**इदं**' शब्द दिया है इसीसे स्पष्ट होती है। अन्यथा एकही '**इदं**' से कार्य पूरा होजाता, दो दफे '**इदं**' देनेका क्या प्रयोजन है। '**यस्यामतं' आदि श्रुतिसे ब्रह्म किसीका विषय नहीं और वह ज्ञेय भी नहीं यह कहते हो'** तौ भी ठीक नहीं। क्यों कि ये श्रुतियां तो 'ब्रह्मको कोईभी पूरीरीतसे जान नहीं सक्ता इतना मात्र कहती हैं। किंवा 'भगवान्के अनु-

---

१–'**जीवो ब्रह्मैव नापरः' इति मायावादिनां मतम्।**

२–**अर्थात् जहां अब्रह्मको भी ब्रह्म** मान लिया हो वास्तवमें वह ब्रह्म न हो ऐसेका भजन मत करो यह कहती है।

ग्रहसेही ब्रह्मको जान सक्ता है'। जो अनुग्रह विना ब्रह्मज्ञानका दावा रखता है, वह कुछ नहीं जानता, इतना मात्र कहतीं हैं। समुद्रको देखकर यदि कोई कहै कि 'इसका पार नहीं है' तो क्या वास्तवमें उसका पार नहीं है। हां यह हो सक्ता है कि मनुष्य पैरकर पार नहीं जा सक्ता।

**समुद्र बडा लम्बा चौडा है उसका पर तट मनुष्यकी दृष्टिमें नहीं आता है। अतः निषेध ठीक ही है। इसीतरह ब्रह्म भी स्वाभाविक निर्दोष अनन्तकल्याण गुणोंसे विभूषित है वह किसीके जाननेमें न आवे। उसका कितना स्वरूप है, कितने गुण हैं। इसतरह यदि कोई उसे पूरी तौरपर न जाने तो क्या वह ज्ञेय नहीं, विषय नहीं ?। गंगामें सब स्नान करते हैं, उनमें कोई बिनतैरा वा दुर्बल मनुष्य उसके पार न जासका तो इससे यह नहीं कहसक्ते कि 'गंगा छूने लायक भी नहीं है'। ब्रह्म स्वतन्त्र है, अनन्तकल्याण-गुण है, उसे कोई अपने सामर्थ्यसे जान न सकै या देख न सकै। अथवा इन प्राकृत नेत्रोंसे न देख-सकै तो उसे यह नहीं कहसक्ते कि 'परमात्मा देखने लायक नहीं, वा जानने लायक ही नहीं। कम नसीबोंको न होता होगा। भाग्यवान् तो उसके दर्शन करतेही हैं।**

६१–जो चीज देखी सुनी वा समझी हो उसीका तो निषेध किया जाता है। बिनदेखी, बिनसुनी, बिनसमझीका कोई

निषेध नहीं करता। लोकमें देखे, सुने, समझे, सब पदार्थ प्राकृत हैं, नश्वर हैं, अतएव विषय हैं। यदि ऐसे धर्मोंका वा आकारका ब्रह्ममें, वेद निषेध करता है, यह मानो तो सबको स्वीकार है। और ऐसाही ( प्राकृत ) आरोपित '**ब्रह्मत्वही**' जड और नश्वर है। किन्तु अप्राकृत अलौकिक स्वरूपभूत ब्रह्म, निर्धर्मक है। किंवा ऐसे धर्मोंका ब्रह्ममें निषेध है, यह बात युक्ति और शास्त्रसे सिद्ध नहीं होती।

अनुमानादि युक्तियोंसे भी शास्त्रोक्त ब्रह्मकी
सिद्धि नहीं होती।

## पूर्वपक्ष।

६२–कितनोंकाही यह मत है कि अवयववाले पदार्थ हैं वे किसीके बनाये हैं। इसीलिये उन्हें **कार्य** कहते हैं। पृथ्वी, पर्वत, जल, आदि पदार्थोंका नामही जगत् है। वह पृथिव्यादिकार्य, अवयववाला है इसीलिये इसे किसीने जरूर बनाया है। वस्तुके बनानेवालेको, कारण ( जिससे बने वह द्रव्य और जिनके सहाय्यसे बने वे सहाय सामग्री ) तथा उसके प्रयोजन, एवं बनानेकी क्रिया, प्रभृतिका ज्ञान अवश्य होना चाहिये। बडा विस्तीर्ण और आश्चर्यकारक यह जगत्-रूप कार्य है। तो इसका बनानेवालाभी जरूर है। ऐसे कार्यका कर्ता कोई अल्पज्ञ हो नहीं सक्ता। इसलिये कार्यको देखकर ऐसे कार्य करनेमें समर्थ, सर्वज्ञ कर्ताका अनुमान होता है। और वही सर्वज्ञ सर्वसमर्थ कर्ता ईश्वर है। यहां ऐसे प्रयोगभी होसक्ते हैं। जो सावयव है, वह कार्य है। जैसे घट।

जगत् सावयव है, इसीलिये जो कार्य है उसके पहले तदनुसार कोई बुद्धिमान् कर्ता होना चाहिये । जगत्‌रूप कार्य बडा विस्तीर्ण, और विलक्षण है । इसलिये इसके बनानेवाले सर्वज्ञ सर्वकर्ता ईश्वरकी सिद्धि होसक्ती है । फिर युक्तियोंसे ब्रह्मकी सिद्धि नहीं होती यह क्यों कहते हो ।

### उत्तरपक्ष.

**६३–अनुमानसे 'अणोरणीयान् महतो महीयान्'** इत्यादि श्रुत्युक्त, लौकिक कर्ताओंसे विलक्षण **विरुद्धधर्माश्रय ब्रह्मकी सिद्धि नहीं** होती । दोका नियमसे संबंध मिलना उसे व्याप्ति कहते हैं । जैसे धूम और अग्निकी । परन्तु वहां इतना और है कि उन्हे दो एक दफे एकसाथ रहते आखों देख लिये हैं । घट जैसे कार्य है ऐसे उसका बनानेवालाभी जरूर है यह ठीक है । परन्तु वहां इतना और साथ लगा है कि अनेकवार लोगोंने, घटको कुम्हार बनारहा है यह देखभी लियाहै । इसलिये वहां कार्यत्वेन कर्तृत्वेन व्याप्ति ठीक है । परन्तु ईश्वरने जगत् बनाया है इस बातको जब किसीने नहीं देखा तो फिर अनुकूल तर्क न मिलनेसे वहां इस व्याप्तिका दृष्टान्त देकर अदृश्य वस्तु ईश्वरकी सिद्धि करना बिना भींतके चित्र लिखना है ।

एक बात और है । घडा माट, अथवा इन जैसे और वस्तु, बनाये जासक्ते हैं । इसलिये उनका कर्ता है यह भी ठीक है । परन्तु पृथ्वी, जल, अग्नि, आदि पदार्थ तो ऐसे हैं कि जिनका बनाया जाना अशक्यही है । इसलिये शक्यक्रिय पदार्थोंका

दृष्टान्त देकर अशक्यक्रिय पृथ्वी जलादिको कार्य माननाही प्रथम हास्यकार्य है। ऐसे कार्यसे ईश्वरकी सिद्धि करना तो आकाशकुसुमके अर्कसे अतरकी नदी बहाना है। जहां 'हेतु' प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे भी ज्ञात होता है, वहां तो उसपर आते दोषोंकी उनसे निवृत्ति हो सक्ती है। किन्तु यहां तो **'जगत् कार्य है'** यह हेतु, और अन्यप्रमाणोंसे जाना नहीं, इसलिये यहां आते दोषोंकी निवृत्ति किसीतरह नहीं होसक्ती। और इसीसे कार्यबलसेभी काम नहीं चलसक्ता।

६४–पृथ्वी, समुद्र, अग्नि, आदि यद्यपि कार्य ( कियेहुए ) हैं, तथापि इन्हे एकने एकही दफेमें बनालिये हैं यह कैसे कह और जानसक्ते हैं। घटकी तरह यह सब एक तो हैं नहीं, जो एकही दफेमें एकही आदमीसे बनसकैं। यह सब हैं अलग अलग। इसलिये इनके बनानेवालेभी अनेक होने चाहियें। अनेक वस्तुओंके अनेकही कर्त्ता होते हैं यह लोकमें दृष्ट है। इसलिये एक कर्ताकी सिद्धि हो नहीं सक्ती। एकही आदमी दुनियांके सबकार्य करले ऐसा चतुर कर्ता लोकमें देखनेमें आता नहीं. इसलियेभी एक ईश्वरकी सिद्धि हो नहीं सक्ती।

६५–और जगत्को बनानेवाला यह ईश्वर शरीरवाला है कि बिना शरीरवाला?। **'बिना शरीरकेही वह कार्य बनाता है'** यहतो कह नहीं सक्ते। क्यों कि लोकमें ऐसा कहीं नहीं देखते। यदि कहो कि **वह इच्छामात्रसे सब करसक्ता है** तौभी ठीक नहीं। क्यों कि इच्छाभी सशरीरकोही होती है। बिना-शरीरके आदमीको इच्छा होती नहीं। यदि कहो कि 'देहके न

रहतेभी मन नित्य है। इसलिये मनके संकल्पमात्रसे वह जगत् बनासक्ता है'। तौ भी युक्त नहीं क्यों कि योगी और मुक्त जीवोंके मन हैं तथापि उनको कार्यकरते नहीं देखे। यदि कहो कि 'शरीरवालाही ईश्वर जगत्का बनानेवाला है'। तौ भी नहीं बनता। प्रश्न होता है कि ईश्वरका वह शरीर नित्य है कि अनित्य ?। यदि कहो कि 'उसका शरीर नित्य है' तौ भी युक्त नहीं। क्यों कि यदि सावयव होनेपरभी शरीर नित्य है, तौ जगत्भी सावयव होनेसे नित्य है फिर उसके बनानेवालेकी क्या आवश्यकता ?। यदि कहो 'उसका शरीर अनित्य है' तौ यह प्रश्न होता है कि उस शरीरको किसने बनाया। **'ईश्वरने आपहीने बनाया'** कहो तो बिनाशरीरके वह कैसे बना सक्ता है। **'अन्य शरीरसे वह शरीर बना'** यह कहो तो 'जिससे बनाया वह शरीर कहांसे हुआ' यह प्रश्नपरंपरा चलीही जायगी। इसलिये अनुमानसे ईश्वरकी सिद्धि करना अपने हाथ अपने पैरपर कुल्हाडी मारना है। इसी लिये कहा है कि—

'अलौकिकास्तु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्'

श्रुतिस्मृतिसूत्रादिशास्त्रसिद्ध ब्रह्मवादमें

## ब्रह्मस्वरूपका निर्णय.

६६—अब यहां यह प्रश्न होता है कि अन्यवादियोंने कहे ब्रह्मका तो शास्त्रमें पता नहीं यह ठीक है। परन्तु सिद्धान्तमें ब्रह्मका स्वरूप कैसा मानना चाहिये।

इसका उत्तर इतनाही है कि **'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्य-**

भिधीयते' 'ओं तत्सत्परं ब्रह्म कृष्णात्मको नित्यानं-दैकस्वरूपः' 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' 'स ईक्षांचक्रे' 'सर्वस्य वशी' 'यः सर्वज्ञः' 'विश्व-तश्चक्षुरुत' 'सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः' 'आत्मा वा रे' 'तदेजति तन्नेजति' 'अपाणिपादो जवनो' 'अणोरणीयान्महतो महीयान्' 'यतो वाचो निव-र्तन्ते' 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्' 'ततस्तु तं पश्यतैनिष्कलं ध्यायमानः' 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' 'स आत्मान ँ स्वयमकुरुत' 'सर्वं पुरुष एवेद ँ' 'मत्तः स्मृतिर्ज्ञान' 'अहं सर्वस्य प्रभवः' 'मत्तः परतरं नान्यत्' 'अतोस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः' 'निर्दोषपूर्णगुणविग्रह आत्मतन्त्रः' 'त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं' 'नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय०' 'श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या०' 'त्वं ब्रह्म पूर्णममृतं विगुणं विशोकमानन्दमात्रमविकारमनन्यदन्यत्०' इत्यादि श्रुतिस्मृती, तथा–

'सर्वधर्मोपपत्तेश्च' 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्ता-ऽनुपरोधात्' 'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्' 'अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्यां' 'उभयव्यपदेशा-त्त्वहिकुण्डलवत्' 'नानुमानमतच्छ्रुतेः' 'प्रकृतैतावत्त्वं प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः' 'आनन्दमयोऽ

**भ्यासात्'** **'आह च तन्मात्रम्'** इत्यादि सूत्रोंसे, यह सिद्ध होता है कि वह परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण भगवान्, आनन्दमय है। साकार है। प्राकृत गुण आकारादिकसे रहित है। शब्दबलसे अनेक विरुद्धशक्तियोंका आश्रय है। अर्थबलसे विशुद्धस्वरूपात्मक सर्वधर्मोंसे विभूषित है। वात्सल्यादि समग्र उत्तमगुणोंका समुद्र है। यही सब सिद्धान्त हम प्रारम्भके श्लोकमेंभी कह आये हैं। श्रीमद्भागवतमेंभी कहा है कि **'एते चान्ये च भगवन्नित्या यत्र महागुणाः'**। में कहांतक कहूं ऐसा कोई शास्त्र नहीं जहां भगवान्में स्वाभाविक नित्यगुण न माने हों। धर्म और गुणोंके रहतेभी द्वैत गंधभी नहीं आता। क्यों कि परब्रह्मके गुण अथवा धर्म स्वरूपात्मक हैं। इसीलिये वेदान्तसूत्रोंमें श्रीव्यासजीने कहा है कि **'प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्'**। सूर्य और उसका तेज दोनों यद्यपि अलग २ दीखते हैं तथापि उनमें द्वैत नहीं। क्यों कि उसका तेज स्वरूपसे जुदा नहीं है। स्वरूपात्मक है। जिस वस्तुका जैसा स्वभाव हो उसे वैसा ही मानना पडता है। भगवान् सब जगत्का उपादान और निमित्त कारण रहतेभी निर्विकार है, और आप्तकाम है। यह पूर्वोक्त श्रुतिस्मृतियोंसे सिद्ध है। यदि कहो कि 'मृत्तिका, घटका उपादान है परन्तु घटमें वह सारीकी सारी लगजाती है। इसी तरह परब्रह्मभी जगत् बनाते समय सबका सब खर्च हो जायगा। और निमित्त माननेमेंभी अवयवरहित ब्रह्म जगत्को कैसे बना सक्ता है'। किन्तु इसका इतनाही उत्तर है कि वह भगवान् अचिन्त्यशक्ति है। वहां परस्परविरुद्धसी जचतीं बातभी

सब हो सक्ती हैं । वेदने उसे निरवयव और कर्ता, उपादान और विकाररहित, कहा है। इसलिये आस्तिकको उसी तरह मानना पडैगा । इसीलिये वेदान्तसूत्रोंमें सूत्र है '**श्रुतेस्तु शब्द-मूलत्वात्**' । इस सूत्रपर श्रीशंकराचार्यजीभी पहले तो ब्रह्मको विरुद्धधर्माश्रय मानकर यथावस्थित आस्तिकोंकासा समाधान कर जाते हैं । किन्तु आगे न जाने क्यों फिर अपना बौद्धगीत छेड देते हैं। अंधोंने हाथी देखा और वर्णन करने लगे । ठीक है यदि वे लोग यों समझते कि 'हमने हाथीका एक एक अवयव देखा है, एक एक अवयवही हाथी नहीं' । ऐसे समयतो उनकी बात मानी जा सक्ती है । किन्तु वे कहें कि 'नहीं जी सूपके आकारकाही हाथी होता है' तो जरूर वे उसे देखकरभी न जानसके, यह कहना पडैगा । इसीतरह अन्यवादियोंकी दशा है । कोई उसकी तिरोभाव शक्तिकोही लेकर कह रहा है कि, 'ब्रह्म शून्य है, अनिर्वचनीय है' इत्यादि । विरुद्ध धर्माश्रय किंवा विविध धर्मोंका आधार होनेसे ब्रह्म तो चाहे उनके कथनका अनुसरण करता रहै । किन्तु वे उसे नहीं पासके यह प्रतीत होता है । यह पूर्वोक्त सब बातें भाष्यकार भगवान् श्रीमद्वल्लभाचार्यने कहीं हैं—

सच्चिदानन्दरूपं तु ब्रह्म व्यापकमव्ययम् ।
सर्वशक्ति स्वतन्त्रं च सर्वज्ञं गुणवर्जितम् ॥
सजातीयविजातीयस्वगतद्वैतवार्जितम् ।
सत्यादिगुणसाहस्रैर्युक्तमौत्पत्तिकैः सदा ॥
सर्वाधारं वश्यमायमानन्दाकारमुत्तमम् ।
प्रापञ्चिकपदार्थानां सर्वेषां तद्विलक्षणम् ॥

जगतः समवायि स्यात्तदेव च निमित्तकम् ।
कदाचिद्रमते स्वस्मिन्प्रपञ्चेऽपि क्वचित्सुखम् ॥
सर्ववादानवसरं सर्ववादानुरोधि तत् ।
अनन्तमूर्ति तद्ब्रह्म कूटस्थं चलमेव च ॥
विरुद्धसर्वधर्माणामाश्रयं युक्त्यगोचरम् ।
आविर्भावतिरोभावैर्मोहनं बहुरूपतः ॥
इन्द्रियाणां तु सामर्थ्याददृश्यं स्वेच्छया च तत् ॥

तत्वदीपनिवंध—शास्त्रार्थप्रकरण.

६७—**'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** इत्यादि श्रुतियोंसें यह मालुम पडता है कि परमात्मा आनन्दानुभवरूप है। और नित्यवर्तमान होनेसे उसे **'सत्'** भी कहते हैं। इसलिये वह सच्चिदानन्दस्वरूप कहा जाता है। **'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन' 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपं'** इत्यादि श्रुतियोंसे यहभी सिद्ध होता है कि स्वरूपकी तरह परमात्मामें स्वरूपसे अभिन्न कोई धर्मरूपभी आनन्द है। और यही वहां आकार, वस्त्र, आभूषण, प्रभृतिके स्थानपर है। यही आनन्दरूप आकार, सृष्टिके पूर्वमें स्वरूपसे इतना मिला हुआ रहता है कि उस समय सबको परब्रह्म निराकारही दीखता है। और इसीलिये इसे कहीं कहीं निराकार, असत् इव, इत्यादि शब्दोंसे कहा है। वास्तवमें तो सर्वत्र निराकारका प्राकृत आकाररहित, अर्थ करना चाहिये। और असत्का अस्पष्ट। प्रभुकी बहिःक्रीडाही जगत् अवस्था है। और अन्तःक्रीडा, सृष्टिके पहले की अवस्था। **'एकोहं बहुस्यां'**

इस विचारके अनुसार जब उस भगवान्को बाहर रमण करनेकी इच्छा होती है तो वह अपने उन धर्मोंको अपनेसे जुदा करता है। जिससे धर्मोंके तिरोभाव आदि, विविध तारतम्योंसे यह जगत् प्रकट होता है। प्रथम जिस रूपद्वारा वह जुदा होता है उसे ही श्रुतियोंमें अक्षर, धाम, समष्टिजीव, ब्रह्म, चरण, महिमा, आदि शब्दोंसे कहा है। श्रीपुरुषोत्तम भगवान् और अक्षर, दोनो सृष्टिके पहले सुप्तशक्ति रहते हैं। अक्षरकी दो प्रकारसे स्फूर्ति होती है। भक्तलोगोंको व्यापिवैकुण्ठ, भगवद्धाम, इत्यादि रीत्या उसका प्रकाश होता है। अतएव श्रीगीता और श्रीभागवतमें कहा है कि **'यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' 'दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम्'**। इस स्फूर्तिमें थोडे भगवद्गुणोंका प्राकट्य और अन्योंका तिरोभाव रहता है। शुद्धाद्वैत ज्ञानियोंको इसी अक्षरकी स्फूर्ति प्रकाशमात्र रूपसे होती है। क्यों कि उस समय उनके हृदयमें एक ज्ञानशक्तिके सिवा और सर्वशक्तियोंका वहां तिरोभावही दीखता है। अतएव वे इसे निर्धर्मक कहते हैं। इसलिये श्रीभागवतमें कहा है कि **'संसुप्तवच्छून्यवदप्रतर्क्यं तन्मूलभूतं पदमामनन्ति'**। यही अक्षरभगवान् **'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा'** आदि श्रुतियोंमें आनन्दमय पुरुषोत्तमरूप हंसकी पुच्छरूपसे कहा है। अक्षर ब्रह्मही अपनी सदंशरूपा प्रकृतिमें जीवरूपवीर्यका आधान करते हैं। जिससे सच्चिद्रूप जीवोंकी उत्पत्ति ( व्युच्चरण ) होती है।

६८–यही आनन्दानुभवरूप पुरुषोत्तम जिस समय नामरूपादि जगत्की स्पष्ट अभिव्यक्ति अलग अलग करना चाहते हैं।

किंवा ब्रह्माण्डात्मक सदंशमें प्रवेशकर उसका शासन करना चाहते हैं, उससमय अन्तर्यामीरूप धारणकर सब जडचेतन पदार्थमें प्रवेश करते हैं। अतएव उपनिषदोंमें कहा है **'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' 'यो विज्ञाने तिष्ठन्' 'एष त आत्मा अन्तर्यामी अमृतः' 'ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्य-वर्ती नारायणः'** इत्यादि।

यदि दृश्य पदार्थही न हों तो नेत्रादि इन्द्रिय, और द्रष्टा ( जीव ), इन दोनोंकी सिद्धि करना मुश्किल हो जाती है। और यदि द्रष्टा न हो तो दृश्य, और इन्द्रियोंकी सिद्धि करना असंभव है। इस तरह जब एकके अभावमें एककी स्थिति दुर्लभ है तो उस समय जो कोई सबका देखनेवाला, तथा दृश्य करण और द्रष्टाको अपने अपने कार्यमें सावधान करनेवाला, किं वा प्रवृत्त करानेवाला है, उसे अन्तर्यामी कहते हैं। यह अन्तर्यामी उस महान् अन्तर्यामीका अंश है। यह एक देही और देहमात्रका नियमन करता है। यह कर्म और कर्मके फलसे छूता नहीं। क्यों कि अभिमानरहित है।

६९—आनन्दमय अनुभव किंवा आनन्दानुभवमात्र,' वह भगवान्ही अपनी इच्छासे अलग अलग भावों द्वारा ब्रह्म, पर-मात्मा, ( अन्तर्यामी ) और जीवादिरूपोंको धारण करता है इसलिये किसी तरहका द्वैत नहीं आता। जीव सजातीय है। जडवर्ग विजातीय है। और अन्तर्यामी स्वगत है। किन्तु तीनो चित्, सत्, आनन्द, हैं। इससे द्वैत गंधभी नहीं आता। सदंश होनेसे प्रकृति और भगवान्में विजातीय द्वैत नहीं। चिदंश

होनेसे जीव और भगवान्में सजातीय भेद नहीं। और सच्चिदानंद होनेसे अन्तर्यामी और भगवान्में स्वगत भेदभी नहीं है। विदेह राजाकी सत्रसभामें प्रवचन करते समय श्रीपिप्पलायनमहर्षिने कहा है कि 'हे राजन्। स्वयं अहेतु रहतेभी किं वा **साक्षात् किसीका कारण न रहते भी अपनी चिच्छक्ति विलासमें सदा रमण करता रहै, किन्तु अपने अंश और अंशांशिरूप अक्षर, ( ब्रह्म ) अन्तर्यामी, ( परमात्मा ) और जीव द्वारा इस सर्व जगत्का पैदा करनेवाला, स्थिति रखनेवाला, और संहार करनेवाला हो उसे 'भगवान्' कहते हैं। और जिसकी सामर्थ्यसे चेतनताको प्राप्त होते जीव, देह, इन्द्रिय, और प्राण, अपने अपने कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं उसे ( परमात्मा ) अन्तर्यामी कहते हैं। और जो तत्व स्वप्न, जागर सुषुप्ति, तथा तुरीय अवस्थामें अपने स्वरूपसे सर्वदा विद्यमान रहता है किंवा जडादिमे भी स्वरूपस्थिति रखनेके लिये सत्रूपसे सूक्ष्मरूपसे रहता है उसे ब्रह्म ( अक्षर ) कहते हैं।** परन्तु वास्तवमें तीनों एकही हैं। इसीलिये श्रीमद्भागवतमें कहा है–

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

भागवततत्ववेत्ता लोक अनुपम उस आनन्दानुभवमात्रकोही तत्त्व ( सार ) कहते हैं। जो शास्त्रोंमें ब्रह्म, अन्तर्यामी, और भगवान् कहा गया है।

७०–प्रभुके यह तीनो स्वरूप आनन्दमय हैं। परन्तु इतनाही विशेष है कि वेदमें **'स एको ब्रह्मण आनन्दः'** इस श्रुतिद्वारा अक्षरके आनन्दकी गणना की है। और **'यतो वाचो निवर्तन्ते'** इस श्रुतिद्वारा परात्पर भगवान्के आनन्दको अपरिमेय कहा है।

७१–महात्मा श्रीशंकराचार्य आनन्दमयाधिकरणके प्रारम्भमें दो चार सूत्रोंमें तो अन्य आस्तिकोंकी तरह आनन्दमय वस्तुको परमात्माही कबूल करते हैं। और कहते हैं कि **'[१]ब्रह्मका आनन्द निरतिशय है'** ( अमेय है )।

किन्तु **'[२]अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति'** इस सूत्रपर उस अपनी आस्तिकतापर बिलकुल पानी फेर देते हैं। और सिद्धान्त करते हैं कि परमात्मा नहीं किन्तु जीव विशेषही आनन्दमय है। **'इदन्त्विह वक्तव्यं'** से प्रारम्भकर अधिकरणसमाप्ति पर्यन्त आप फरमाते हैं कि 'हमारा तो यहा सूत्रकारसे इतनाही कहना है ( अर्थात् प्रश्न ) कि आनन्दवल्लीमें प्रवाह और परंपरातो चल रही है विकारार्थक मयट् प्रत्ययकी, फिर यह बीचमेंही अकस्मात् प्राचुर्य अर्थमें मयट्का ग्रहण क्यों करते हो ?। और यदि आनन्दमयको ब्रह्म कहते हो तो अन्नमयकोभी ब्रह्म कहो। और आनन्दमयको यदि ब्रह्म मानोगे तो ब्रह्म सविशेष मानना

---

१–ब्रह्मानन्दस्य निरतिशयत्वाऽवधारणात्। १–१–१३। भाष्यम्। २–वेदान्तमीमांसा १–१–१९। सूत्रम्। ३–**तस्मात्कार्यपतित एवानन्दमयो, न पर एवात्मा आनन्द इति विद्याकर्मणोः फलम्। तद्विकार आनन्दमयः।** आनन्दब्रह्मवल्ली शांकरभाष्यम्।

पडैगा । और 'यतो वाचो०' इस निर्णय वाक्यमें तो ब्रह्मको निर्विशेष कहा है । एक बात और है कि ब्रह्मको आनन्दमय माननेमें उसमें थोडा दुःखभी मानना पडैगा । क्यों कि प्रचुरार्थमें विरोधीकी थोडी सत्ता मालुम पडा करती है ।

७२–और प्रतिशरीरमें प्रिय मोद आदिका भेद देखनेमें आता है इसलिये आनन्दमयमेंभी भेद मानना पडैगा । और ब्रह्मतो अनेक शरीरोंमेंभी एकही है । अभिन्न है । और अभ्यास ( पुनः पुनः कथन ) भी आनन्दमयका नहीं है । केवल आनन्दमात्रकाही अभ्यास है । जो कहीं आनन्दमयका अभ्यास आभी जाय तो उसे अन्नमयादिप्रवाहमें आनेसे ब्रह्मविषयक नहीं मानना चाहिये । ईसलिये अन्नमयादिकी तरह आनन्दमयमेंभी मयट विकारमेंही समझो प्राचुर्य अर्थमें नहीं ।

## आनन्दमयाधिकरणपर कीहुई श्रीशंकराचार्यकी बौद्धकल्पनाओंका विचार.

यह तो हम किसी और ग्रन्थमें स्पष्ट दिखावेंगे कि श्रीशंकराचार्यका भाष्य, वेदव्यासजीके किसी सूत्रकाभी स्पर्शमात्र नहीं करता । किन्तु इस समय तो जो आपने आनन्दमयाधिकरणपर कौशल किया है, उस कौशलकाही अक्स लोगोंके हृदय पर जचाना चाहते हैं । प्रथम तो श्रीशंकराचार्यने यही बडी भूल की कि आनन्दमयाधिकरण पर भाष्य बनाया । क्यों कि आनन्दमयोऽभ्यासात् सूत्रसे लेकर अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् के पहले पहले सूत्रकारने

१–तस्मादन्नमयादिष्विवानन्दमयेऽपि विकारार्थ एव मयड्विज्ञेयो न प्राचुर्यार्थः ।१–१–१९। भाष्यम् ।

ब्रह्मको आनन्दमय ठहराया है। और आपके यहां तो ब्रह्मको आनन्दमय बताना जहर है। फिर ऐसे सूत्रोंपर भाष्यही क्यों किया। और यदि अपने 'आशयसे न मिलते होनेपरभी सूत्र भाष्यकार बनना था तो फिर प्रारम्भसेही खण्डन क्यों न किया। लोगोंको भ्रममें डालनेके लिये पहले आस्तिक क्यों बने। ब्रह्मको आनन्दमय क्यों बनाया। मयट्को प्रचुर अर्थमें क्यों माना। साफ़ कहदेते कि सूत्रकारकी भूल है। आनन्दमय ब्रह्म हो नहीं सक्ता। क्यों कि मयट् प्रचुर अर्थमें हो नहीं सक्ता। पहले सूत्रपर ब्रह्मको आनन्दमय मान लिया। दूसरे सूत्रपर मयट्को प्रचुर अर्थमें मानकर फिर उसे आनन्दमय सिद्ध करचुके। किंबहुना अधिकरणके सब सूत्रोंपर सूत्रकारके अनुसारही सिद्धान्त मानकर श्रुतियुक्तियोंसे आनन्दमयकोही ब्रह्म माना। तौ फिर इस अन्तिम सूत्र परही यह मायावादका स्वप्न कहांसे आ झलका। सूत्रके अक्षरोंसे तो यह गन्धभी नहीं आता। प्रत्युत चकारसे उस पहली बातकाही पोषण होता है।

७३—यदि द्वैतके गंधसे आनन्दमयको ब्रह्म न कहना चाहते हो तौ ठीक नहीं। क्यों कि जब आनन्द और आनन्दमय-दोनो एकही पदार्थ हैं तो **द्वैत कैसा?**। आनन्दमयही आनन्द है, और आनन्दमय है। सूर्यही तेज है, और तेजोमय है। ऐक्य रहतेभी जो अलग अलग प्रतीति होती है वह ठीक है। क्यों कि वस्तुमें शक्तिही वैसी है। जहां वस्तुही दोनो तरहका प्रतीत होता हो वहां तर्क करना व्यर्थ है। ब्रह्ममें रूपवा आकारस्थानीय आनन्द, उससे जुदा नहीं। किन्तु वह

आपही रूप वा आकार है। इसलिये द्वैत नहीं। प्राकृतवस्तुओंकी तरह रूप उससे जुदा नहीं, किन्तु वह ब्रह्मही रूप और आकार है। तथा सरूप और साकार है। सूत्रकारने **'अरूपदेव हि तत्प्रधानत्वात्'** इस सूत्रसे सिद्धान्त किया है कि 'रूपवाला नहीं किन्तु रूप ही ब्रह्म है'। क्यों कि आनन्द प्रधान है। जहां रूपवालेसे जुदा रूप हो वहां द्वैत भय होता है। किन्तु जहां रूप और रूपवान् दोनो एकही हों वहां द्वैतगंधभी नहीं। स्वाद लेनेसे जब खांड और खांडका खिलौना दोनो एकही निश्चय हो चुके तो फिर हजार युक्तियां लडाया करो। युक्तियोंसे क्या उनका वास्तव द्वैत हो जायगा। **इसलिये आनन्दमय ब्रह्म है।**

७४—'विकारार्थक मयके प्रवाहमें आनेसे आनन्दमयभी जीव विशेषही है, ब्रह्म नहीं,' यह सूचित करनाभी भूल है। कहीं भी प्रवाहपतित पदार्थमें प्रवाहके धर्म नहीं आजाते। जल प्रवाहमें यदि तृण आजाय तो क्या वह जल माना जाय। जल और तृणका फरक प्रमाणान्तरसे स्पष्ट दीख रहा है। प्रवाहपतित होनेसे तृणको जल कहदेना जैसे भूल है। इसीतरह अन्नमयादि प्रवाहमें आनेसेही आनन्दमयको अब्रह्म कहदेनाभी भूल है। यदि आनन्दमयको किसी वेदादि प्रमाणसे विकारार्थकता आजाती हो, फिर तो 'प्रवाहपतित' इसहेतुसे आनन्दमयको अब्रह्म कहसक्ते हो। किन्तु **'अपहतपाप्मा'** इत्यादि सहस्रशः श्रुतियोंसे उसके विकारापातका निरास किया है। इसलिये **'प्रवाहप्रतित'** इस हेतुसे आनन्दमयको अब्रह्म बताना भारी भूल है।

विकारार्थका प्रवाहभी तो नहीं सिद्ध होता । क्यों कि अन्नमयके सिवा कहीं भी विकारार्थ हैही नहीं । प्राणमयसेही विकारार्थका परित्याग है । क्यों कि प्राणका विकार न हो सकनेसे वहां विकारार्थक[1] मयट् हो नहीं सक्ता । इसलिये आनन्दमयमें प्रायपाठका बाध नहीं । श्रौतमतसेभी यहां तो प्रचुर अर्थही है । व्याकरणसेभी[2] आनन्दशब्दसे विकारार्थमें मयट् नहीं हो सक्ता । अन्नमयादिकोंमें जैसे एक अन्य आत्मा कहा है, इसतरह आनन्दमयका कोई आत्मा कहा नहीं, इसीसे मालूम पडता है कि 'आनन्दमय ही ब्रह्म है' । यदि कहो कि आनन्दमय आदि पांच कोश हैं ऐसी कल्पना करसक्ते हैं । क्यों कि बात ब्रह्मकी चलरही है । उस पुच्छ रूप ब्रह्मके ज्ञान करानेके लियेही कोश कल्पना है । यह भी युक्त नहीं क्यों कि ब्रह्म शब्दमें तो सन्देह रहा नहीं । क्यों कि '**सत्यं ज्ञानं०**' इस श्रुतिसे उसका निर्णय हो चुका । किन्तु '**परं**' शब्दका निर्णय करना है । और उसीके निर्णयार्थ अनुवाकका प्रारम्भ है । इसलिये ब्रह्मका नहीं किन्तु आनन्दमय परब्रह्मका प्रकरण चलरहा है । यदि भावाभावकी शङ्काको लेकर आनन्दमयको ब्रह्म न मानते हो तौभी ठीक नहीं

---

१–भामतीनिबन्धमें जो विकारार्थके प्रवाहका समर्थन किया है उसकी पोल हम किसी ग्रन्थान्तरमें समयपर खोलेंगे ।

क्यों कि 'भामती' शांकरभाष्यकी टीका नहीं किन्तु युक्तिसे उसका खंडन है ।

२–या तु मनोरमायां दीक्षितैः भाष्यकाराय यष्टिः प्रदीयते विकारार्थसाधने सा तु श्रीरामकृष्णपण्डितैः खण्डितेति ग्रन्थान्तरे तदपि स्फोरयिष्यते ।

क्यों कि प्रियमोदादि अवयववान् अवयवी आनन्दमय, लोकमें अप्रसिद्ध है इसलिये वहांभी भावाभाव शंका हो सक्ती है ।

यदि कहो कि 'आनन्दमयकी पुच्छ आदिका वर्णन है इसलिये वह सविशेष है । और वेदमें तो सर्वत्र निर्विशेष ब्रह्मका वर्णन है । इसलिये आनन्दमय ब्रह्म नहीं' । तौभी ठीक नहीं क्यों कि वेदमें कहींभी निर्विशेष ब्रह्मका गंधतक नहीं यह हम पहलें श्रुति और युक्तियोंसे अच्छीतरह सिद्ध करचुके हैं । **'यतो वाचो०'** इस श्रुतिमें तो ब्रह्मानन्दके परिमाणका निषेध है । निर्विशेष ब्रह्मका तो गंधभी नहीं । इसलिये आनन्दमयही ब्रह्म और परब्रह्म है ।

और जो यह कहा कि 'आनन्दमयका अभ्यास नहीं किन्तु आनन्दका है । इसलियेभी आनन्दमय ब्रह्म नहीं' । सोभी ठीक नहीं ।

क्यों कि आनन्दशब्दसेभी अर्थतः आनन्दमयका सूचन किया है । सुनिये ! **'आनन्दं ब्रह्मणः०' 'यदेष आकाश आनन्दः०'** इत्यादि श्रुतियोंसे आनन्दकी स्तुति की है ! इसतरह स्तुतिद्वारा प्राचुर्यका द्योतन किया है । लोकमें धनप्रचुरादि स्तुतिके पात्र होते हैं यह सिद्ध है । इसलिये आनन्दमें अर्थसे मयट् है । और आनन्दमयमें शब्दतः मयट् है । इसीसे आनन्दमयकाही अभ्यास है । 'आनन्दमयमात्मानं०' इत्यादिमें शब्दतः और **'आनन्दं०'** इत्यादिमें अर्थतः अभ्यास है ।

और जो यह कहा कि 'प्रचुर अर्थ माननेमें ब्रह्ममें कुछ दुःखका होनाभी प्रतीत होगा । इसलिये आनन्दमयको ब्रह्म न

मानना ठीक है' यहभी बे समझकीसी बात है। क्यों कि प्राचुर्य अर्थ आनन्दका बहोत होना मात्र दिखाता है। किन्तु विरुद्ध वस्तुकी सत्ताका बोधक नहीं। विरुद्ध वस्तु वहां है कि नहीं यह प्रमाणान्तरसे देख सक्ते हैं।

'तेजोमयः सूर्यः' 'प्रभूतसन्तापो निदाघदिवसः' 'प्रचुरान्धकारा वर्षाशर्वरी' 'बहुधनो वैश्रवणः'। इत्यादि प्रयोगोंमें क्या 'सूर्यमें अन्धकार, दिनमें शैत्य, वर्षारात्रिमें प्रकाश, और कुबेरके यहां दारिद्र्य हो सक्ता है। क्या कहें ये लोगभी कहीं कहीं तो बेपरकी उडा देते हैं।

'सूर्य तेजमय है' यहां सूर्यमें अन्धकारकी कल्पना। 'गरमीके दिनोंमें बडी घाम रहती है' यहां जेठकी दुपहरीमें शीतलताकी शंका। 'चौमासेकी रात्रि बडी अन्धकारमय होती है' यहां कुछ उजियालेका स्वप्न। और 'कुबेरके यहां बहोत धन है' यहां जैसे कुबेरको कुछ दरिद्र समझना, बे समझी है। इसीतरह आनन्दमयमें कुछ दुःखका आरोप करनाभी भारी भूल किंवा हठ करना है। यदि हठाग्रहसे मानभी लिया जाय कि **'आनन्दमयः'** यहां **मयका** प्रचुर अर्थ होनेसे थोडे दुःखके होनेकीभी आशंका रहती है। तथापि ब्रह्म वा भगवान्में यह शंकाभी करना उचित नहीं। यह रीति है कि जहां वस्तुमें गुण वा दोषका होना किसी प्रमाणसे न जाना जाय वहां अवश्य संदेह रहता है। इसीतरह यदि प्रमाणान्तरसे ब्रह्मका निर्दुःख होना प्रतीत न होता तौ कह सक्ते थे कि 'प्रचुर अर्थ माननेमें थोडे दुःखकाभी होना प्रतीत होगा'। किन्तु परमात्माके निर्दुःख

होनेकी गवाही हरएक उपनिषत् और वेद दे रहा है। इसलिये वहां प्राचुर्य अर्थ रहतेभी यह कह नहीं सक्ते कि 'वहां थोडा दुःखभी है'। सहस्रशः श्रुतियोंसे यह सिद्ध है कि **'परमात्मा निर्दुःख है'**। तथापि हठाग्रहसे अपनी युक्तिमात्रको आगे कर आनन्दमयमें दुःखका स्वप्न देखनाही यह सिद्धकर रहा है कि आशंका करनेवालेमें दुःखोंके संस्कार बडे जबरदस्त जमे हुए हैं। अस्तु, यह सिद्ध हुआ कि **'आनन्दमयही परब्रह्म है'**।

७५–तृतीय जो सर्वान्तर्यामी पुरुष कहा वह अपने[1] शुद्धसत्वको शरीर जैसा रूप बनाकर उसमें जब प्रवेश करता है उस समय उन्हें लीलावतार कहते हैं। नृसिंहवामनादि अनेक लीलावतार[2], इन सर्वान्तर्यामी पुरुषकेंही हैं। प्रकृतिके अशुद्ध, सत्व रजस् तमस्की तरह भगवान्के विशुद्ध, तीन गुण ( सत्वरजसतमस ) हैं। दोनोंका नाम समान होनेसे कहीं भ्रमभी होने लगता है। किन्तु वास्तवमें प्राकृतगुण और भगवदीय गुणोंमें बहोत अन्तर है। जब यह सर्वान्तर्यामी भगवान् इस प्रपञ्चकी रक्षा करनेकी यथास्थित रखनेकी किंवा धारण करनेकी इच्छा करते हैं उस समय उस अपने **विशुद्धसत्वको** विग्रहरूप बनाकर **लोहके गोलेमें अग्निकी** तरह वहां प्रवेश कर **विष्णु** नामको धारण करते हैं। और अप्राकृत किंवा विशुद्ध रजोगुणके विग्रहमें प्रवेशकर **ब्रह्मा** इस संज्ञाको लेते हैं। तथा विशुद्धतमोगुणको

---

१–विशुद्धसत्वं तव धाम शान्तम्। सत्वं तस्य प्रिया मूर्तिः। सत्त्वं विशुद्धं श्रयते भवान् स्थितौ। श्रीमद्भागवतम्।

२–लीलावतारान् पुरुषस्य भूम्नः। श्रीमद्भागवतम्।

अपना विग्रह बनाकार **शिवरूप** धारण करते हैं। अतएव ब्रह्मा विष्णु और महादेव गुणावतार कहे जाते हैं। इस नामके साम्यसे यदि कोई विष्णुको सगुण कहदें तो यह उनकी भारी भूल है। क्यों कि प्रकृतिके गुणोंका उनमें स्पर्शभी नहीं हैं। और श्रीकृष्ण भगवान् तो इन सब अवतारोंके मूलस्वरूप हैं। सबसे अलग हैं। पुरुषोत्तम हैं। निर्गुण हैं। आनन्दमय हैं। साकार हैं। सर्व श्रेष्ठ हैं। ब्रह्माका सृष्टि करना, विष्णुका पालन करना, और शिवका संहार करना कार्य है। इसीलिये ही विष्णु आदि अवतार किंवा भगवद्रूपोंको कहीं कहीं सगुणभी कह दिया है। इससे इन्हें प्राकृत गुणवाले न समझलेना चाहियें। किन्तु ऐसे समय '**गुण**' का '**विशुद्धगुण**' यह अर्थ होता है।

७६–इस तरह मूलस्वरूप भगवान्के ही चार स्वरूप हैं यह सिद्ध हुआ। एक श्रीकृष्ण भगवान् पुरुषोत्तमस्वरूप। दूसरा अक्षर ब्रह्म, जिसकी दो तरह स्फूर्ति होती है। और चतुर्थ अन्तर्यामिस्वरूप।

कहनेका आशय यह है कि–ग्राहककी जिस स्फूर्तिमें ( अनुभवमें ) अनुभवसे आनन्दकी मात्रा अतिविशेषहो उस आनन्दानुभवको **भगवान्** कहते हैं। भगवान्के रूप किंवा आकारादि जुदे नहीं हैं। किन्तु धर्मात्मक आनन्दही भगवान्के आकार रूप आदि हैं। और धर्मधर्मी एक हैं। इसलिये भगवान् आनन्दमात्र हैं। आनन्दानुभवमात्र हैं। सच्चिदानन्द हैं। उस[1] आनन्दानुभवको वेदमें ब्रह्म, पर, आदि-

---

१. वेदान्ते च स्मृतौ ब्रह्मलिङ्गं भागवतेऽपि च। ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते। **भगवद्वल्लभाचार्यकृतस्तत्वार्थदीपः**।

शब्दसे, स्मृतिमें परमात्मा आदिशब्दसे, और श्रीभागवतमें भगवान् शब्दसे कहा है। नित्यवर्तमानरहनेसे, और अनुभवरूप होनेसे, वह भगवान् सच्चिदानन्द कहा जाता है।

ग्राहककी जिस स्फूर्तिमें अनुभवकी मात्रा विशेषहो और आनन्द कुछ तिरोहितसा हो, ऐसे आनन्दानुभवको **अक्षरब्रह्म** कहते हैं। अत एव आनन्दवल्लीमें ब्रह्मानन्दकी गणना[1] करदी है। और वहांही उसे हंस स्वरूप आनंदमय भगवान्की पुच्छ[2] कहा है। यह अक्षरब्रह्मही सर्व प्रपञ्चका उपादानकारण और निमित्तकारण है। इस अक्षर ब्रह्मसे पुरुष[3] और प्रकृति यह दो जगत् के माता पिता प्रकट हुए हैं। अक्षर ब्रह्मभी सच्चिदानन्दात्मक है। इसलिये इनसे २८ तत्व और व्यष्टिजीव, उत्पन्न होते हैं। इन अक्षर ब्रह्मकी दो प्रकारकी स्फूर्ति होती है। शुद्धाद्वैतज्ञानियोंको **ज्ञानमात्रस्फूर्ति** और भक्तोंको व्यापि वैकुण्ठरूपस्फूर्ति होती है। जिन्हे ज्ञानमात्रस्फूर्ति होती है उनके लियेही कहीं कहीं इसे निर्विशेषसाभी कहदिया है। इसलिये वस्तुमें भेद नहीं।

जिससमय वह भगवान् नामरूपका[4] पृथक्करण किया चाहता

---

१. 'स एको ब्रह्मण आनन्दः'। **श्रुतिः**। २. 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा'।

३. 'रयिञ्च प्राणं च श्रुतिः। '......द्विधासमभवद्बृहत्०'....प्रकृतिः सोभयात्मिका। ज्ञानं त्वन्यतमो भावः पुरुषः०....'। **श्रीभागवतम्**।

४. 'अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि'। श्रुतिः। 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न०' **श्रुतिः**।

है। विश्वको धारण किया चाहता है । सबको[1] अपने अपने कार्यमें प्रवृत्त करना चाहता है। किं वा सबका[2] प्रकाश कराना चाहता है। उस समय भगवान्ही परपुरुष, अन्तर्यामी, किंवा परमात्मरूप लेता है। किंवा वह आनन्दानुव, जब ग्राहकके हृदयमें धारकत्वादिशक्तियों सहित उद्भूत होता है तौ वह परमात्मा कहाजाता है। सबको जिलावे (अपने स्वरूपमें लावे) इसलिये इसे कहीं कहीं जीवभी कहा है। और सबमें प्रवेशकरनेसेही अन्तर्यामी ब्राह्मणादिमें पृथिवी आदिको और आत्माको इनका शरीर कहा है। सूर्यान्तर्वर्त्ती नारायणभी यही भगवान् हैं।

इसीतरह नित्यनिरतिशय आनन्दानुभवमात्र भगवान्ही तीनरूप हो जाता है यह ठीक है। इसतरह परब्रह्महो तीन रूपोंको धारणकर लेता है। ज्ञानमार्गीय साधनोंसे ब्रह्मस्फूर्ति, मर्यादामार्गीयभक्तिद्वारा परमात्माकी स्फूर्ति, और **शुद्धप्रेमसे भगवान्की स्फूर्ति होती है।**

जिसकी शक्तियां विरुद्धसी जचती रहें उसे ब्रह्म कहते हैं। अतः इन तीनों अथवा जीवादिमेंभी जो विरुद्धसे धर्मोंका दर्शन हो तौ कोइ हानि नहीं। क्यों कि ये सब इसीके रूपान्तर हैं।

यह ब्रह्मवादके अनुरूप भगवत्स्वरूपका निर्णय हुआ है। भक्तिके अनुरूप ब्रह्मस्वरूप तो हम आगें भक्तिखण्डमें कहेंगे।



---

१. 'भीषास्माद्वातः पवते०' श्रुतिः। २. 'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च'. श्रीगीतोपनिषत्।